डी.सी.सी.टी. 01

कोटा खुला विश्वविद्यालय

डिप्लोमा कोर्स इन कल्चर एण्ड टूरिज्म
संस्कृति एवं पर्यटन में डिप्लोमा कोर्स

Outline of the Traditions and Culture of the People of India

"भारत के निवासियों की परम्पराओं एवं संस्कृति की एक रूपरेखा"

डी.सी.सी.टी - 1

Diploma Course in Culture and Tourism 4

डिप्लोमा इन कल्चर एण्ड टूरिज्म
संस्कृति एवं पर्यटन में डिप्लोमा कोर्स

पाठ्यक्रम-प्रथम
खण्ड(चतुर्थ)

4 "भारत के निवासियों की परम्पराओं एवं संस्कृति की एक रूपरेखा"

इकाई 22 शिक्षा एवं पुस्तकालय	5–21
इकाई 23 साहित्य	22–40
इकाई 24 भारत मे विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी	41–62
इकाई 25 गणित और ज्योतिष	63–81
इकाई 26 भारतीय औषध	82–94
इकाई 27 काल गणना एवं पंचांग	95–117
इकाई 28 युगयुगीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति में आमोद प्रमोद (मनोरंजन) के साधन	118–127

पाठ्यक्रम अभिकल्प समिति

(1) प्रो. जी.एस.एल. देवड़ा
कुलपति, कोटा खुला विश्वविद्यालय
कोटा

(2) प्रो. दिलबाग सिंह
इतिहास विभाग,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

(3) प्रो. रविन्द्र कुमार
निदेशक, नेहरू मेमोरियल म्यूजियम एण्ड लायब्रेरी,
तीन मूर्ति भवन, नई दिल्ली

(4) डॉ. आर.के. सक्सैना
रिटायर्ड अध्यक्ष, इतिहास विभाग,
एम.एल. सुखड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर

(5) प्रो. जी.एन. शर्मा
रिटायर्ड प्रोफेसर, इतिहास व संस्कृति विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

(6) प्रो. एस.एन. दूबे
इतिहास एवं संस्कृति विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

(7) प्रो. एम.वी. माथुर
पूर्व कुलपति, राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर

(8) पदमश्री (श्रीमती) लक्ष्मी कुमारी चूंडावत
प्रसिद्ध साहित्यकार एवं मनीषी,
बनीपार्क, जयपुर

(9) प्रो. एम.एस. जैन
रिटायर्ड प्रोफेसर, इतिहास एवं संस्कृति विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

(10) डॉ. रीमा हूजा
एसोसियेट प्रोफेसर, भारतीय संस्कृति एवं परम्परा विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

(11) प्रो. जी.एस.एल. देवड़ा (संयोजक)
अध्यक्ष, भारतीय संस्कृति एवं परम्परा विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

पाठ्यक्रम निर्माण दल

(1) डॉ. वी.एस. भार्गव
रिटायर्ड प्रिन्सिपल, कॉलेज शिक्षा विभाग,
राजस्थान सरकार जयपुर

(2) डॉ. (श्रीमती) मृदुला रमन्ना
इतिहास विभाग, एस.एन.डी.टी.
विश्वविद्यालय, मुंबई

(3) डॉ.(श्रीमती) शशि अरोड़ा
इतिहास विभाग
राजकीय महाविद्यालय, कोटा

(4) प्रो. जी.एस.एल. देवड़ा
कोटा खुला विश्वविद्यालय
कोटा

(5) डॉ. जे.एस. नेगी
पूर्व प्राचार्य, जे.एन.टी.टी. (पी.जी.)
कॉलेज, कोटा

(6) श्री सुखवीरसिंह गहलोत
सचिव, जे.एस. गहलोत शोध संस्थान,
जोधपुर

संपादन व संशोधन

निदेशक
भारतीय संस्कृति एवं परम्परा विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

सामग्री निर्माण

निदेशक
सामग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

इकाई सं. 22 "शिक्षा एवं पुस्तकालय (भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के संदर्भ में)

इकाई रूपरेखा

22.1 उद्देश्य

22.2 प्रस्तावना

22.3 भारतीय इतिहास के प्राचीन युग में शिक्षा का विकास

22.3.1 वैदिक काल में शिक्षा

22.3.2 उत्तर वैदिक काल से पूर्व मध्यकाल तक स्थिति

22.4 मध्यकाल में शिक्षा का स्तर

22.5 ब्रिटिशकाल में शिक्षा का स्तर

22.6 पुस्तकालयों की स्थापना एवं उनका क्रमिक विकास

22.6.1 पुस्तकालयों की उपयोगिता एवं महत्व

22.7 इकाई सारांश

22.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

22.9 प्रासंगिक पठनीय ग्रन्थ

22.1 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में हमारा उद्देश्य भारत में शिक्षा की आवश्यकता , महत्व एवं क्रमिक विकास के सम्बन्ध में संक्षिप्त जानकारी कराना है । इसके पश्चात् हम प्राचीन काल की शिक्षण पद्धति की वर्तमान परिप्रेक्ष्य में, दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली के साथ, तुलनात्मक विवेचना करेंगे । इस इकाई का अध्ययन कर लेने के पश्चात् आपको निम्नलिखित तथ्यों की जानकारी प्राप्त हो जाएगी ।

- भारत में शिक्षा का उद्भव एवं विकास किस भांति हुआ ।
- भारत की पुरातन गुरूकुल प्रणाली, तथा आधुनिक शिक्षा के जन्म की कहानी ।
- गुरू और शिष्यों के सम्बन्ध ।
- पाठ्यक्रमों के विकास का तुलनात्मक विश्लेषण ।
- पुस्तकालयों की उपयोगिता ।
- भारत की प्रमुख शिक्षण संस्थाओं की स्थापना एवं व्यवस्था के सम्बन्ध में जानकारी ।

22.2 प्रस्तावना

सामान्यत: यह समझाया जाता है कि रोटी के बाद शिक्षा मानव जीवन की महत्ती आवश्यकता है । इस तथ्य को भारतीयों ने प्रारम्भ से ही जान लिया था । अतएव पढ़ना, लिखना तथा जोड़- बाकी (गणित) की जानकारी देने के लिए उन्होंने आश्रम प्रणाली की व्यवस्था की थी । उपनयन के पश्चात् पांच वर्ष की आयु का बालक गुरु के आश्रम में शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेज दिया जाता था । वहां

उसे बह्मचर्य जीवन का अनुसरण करते हुए गुरु के निकट रह कर व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करना पड़ता था । गुरू व शिष्य का व्यवहार एक दूसरे के साथ पिता-पुत्र के समान था । लिपि के आविष्कार के पूर्व गुरु के मौखिक प्रवचनों को छात्र शुद्ध उच्चारणों के साथ बार बार दुहरा कर उन्हें कंठस्थ कर लेते थे । गुरू के संतुष्ट होने के पश्चात् ही शिष्य को दीक्षा दी जाती थी । इस शिक्षण पद्धति के अन्तर्गत अनुशासन- -हीनता की गुंजाइश नहीं थी । राजा व रंक सभी वर्गो के बालक आश्रम में बिना किसी भेदभाव के शिक्षा ग्रहण करते थे । प्रारम्भ में शिक्षा निःशुल्क दी जाती थी । शिक्षा का धर्म के साथ गहरा सम्बन्ध होता था । अतएव आश्रमों के साथ साथ धार्मिक स्थलों पर भी शिक्षा प्रदान की जाती थी । शिक्षा का माध्यम संस्कृत था । कालान्तर में पाली व प्राकृत भाषाएं भी शिक्षा का माध्यम बन गई थीं । दो प्रकार की लिपियाँ खरोष्ट्री एवं ब्राह्मी प्रचलित थीं जिनमें खरोष्ट्री लिपि, दाई ओर से बाई ओर लिखी जाती थी । प्रारम्भिक शिक्षा देने वाले अध्यापकों को ' द्वारकाचार्य ' कहा जाता था तथा प्राथमिक विद्यालयों को लिपिशाला कहकर पुकारते थे । ऐसी लिपिशालाएं प्राय: सभी गांवों में थीं । लेकिन शिक्षा के प्रमुख केन्द्र काशी, मथुरा, पाटलीपुत्र, वल्लभी, उज्जयनी, पनवती, प्रचरपुर थे । छठी शताब्दी में नालन्दा शिक्षा का केन्द्र था । उससे पूर्व तक्षशिला शिक्षा का मुख्य केन्द्र था । इन दोनों तथाकथित विश्व विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करने के लिए देश विदेश के स्नातक आते थे । यहीं वेदों के अतिरिक्त वेदांग, पुराण, मीमांसा, न्याय, धर्म (व्यवहार) व्याकरण, महाभारत, इत्यादि का अध्ययन कराया जाता था। वेद पाठ कराने वाले अध्यापक को श्रोतिय कहकर पुकारा जाता था । वैदिक विद्यालयों को चरण कहते थे । इनमें बालिकाएं भी पढ़ती थीं । कन्याओं को घर के कामकाज और संगीत आदि की शिक्षा भी दी जाती थी । इस प्रकार आर्यों के द्वारा उत्तर वैदिक काल तक शिक्षा की जो व्यवस्था स्थापित की गयी थी, वह कालान्तर में, कुछ परिवर्तनों के साथ, मध्ययुग के प्रारम्भ होने तक बनी रही । आधुनिक काल में भी धार्मिक एवं सामाजिक सुधारकों ने वेदों की ओर लौट जाने का आह्वान किया । इस बिन्दु पर विस्तार से चर्चा होती है कि शिक्षा का आधार क्या हमारी पुरातन व्यवस्था हो अथवा समयानुसार सामाजिक व आर्थिक परिवर्तनों के अनुसार उसे गठित किया जाये ।

22.3 भारतीय इतिहास के प्राचीन युग में शिक्षा का विकास

शिक्षा के द्वारा ही मनुष्य सभ्य और सुसंस्कृत बनता है । ऋग्वैदिक काल के आर्यों ने इस तथ्य को जान लिया था । अतएव उस युग में, जब लिपि का आविष्कार नहीं हुआ था, तब भी वैदिक ऋषियों ने कंठस्थ रूप से वेदों की ऋचाओं की रचना की थी । कालान्तर में संस्कृत भाषा में वेद ग्रंथो की रचना की गई । इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है ' कि वैदिक युग मे शिक्षा का विकास होना प्रारम्भ हो. गया था ।

22.3.1 वैदिक काल में शिक्षा

शिक्षा देने का कार्य ऋषियों के द्वारा किया जाता था । आर्यों ने वर्णाश्रम व्यवस्था प्रारम्भ करते समय प्रत्येक बालक के जीवन के 25 वर्ष ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत करने हेतु निर्धारित किये थे। इस आयु का बालक पांच वर्ष की आयु प्राप्त करने के बाद, उपनयन संस्कार सम्पन्न होने के पश्चात्, गुरू के आश्रम में शिक्षा प्राप्त करने हेतु भेज दिया जाता था । शिक्षा प्रदान करने वाले ऋषि, महर्षि प्रथम वर्ण के हों, यह आवश्यक नहीं था । गुरूकुल में रहते हुए बालक को अनुशासन और शिष्टाचार

का पाठ पढ़ाया जाता था । गुरू के सम्पर्क में रहने के कारण छात्र आज्ञाकारी और सेवाभावी बन जाते थे । त्याग और तपस्या की भावना उसमें कूट कूट कर भर दी जाती थी । उसे व्यावहारिक ज्ञान प्रदान करने के पश्चात् वेद और शास्त्रों का अध्ययन कराया जाता था । गुरु के आश्रम में 10 से 15 तक की संख्या के छात्र हा 25 वर्ष की आयु तक शिक्षा प्राप्त करते थे । वहां बिना किसी भेदभाव के उन्हें शिक्षा दी जाती थी । गुरु अपने शिष्य को पुत्रवत् तथा शिष्य गुरु को विष्णु के तुल्य मानते थे । कतिपय प्रमाण प्राप्त हो चुके हैं जिनके आधार पर स्वर्गीय डा. ए. एस. अल्तेकर ने लिखा था कि वैदिक युग में स्त्रियाँ भी शिक्षित होती थीं । उस समय सह-शिक्षा की परम्परा प्रचलित रही होगी । मैत्रीय संहिता से पता चलता है कि स्त्रियाँ संगीत नृत्य की शिक्षा भी प्राप्त करती थी । याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी एक परम विदुषी नारी थीं । स्त्रियाँ विद्याध्यायन भी इस स्तर पर करती थी कि वे पूरे जन्म इस उद्देश्य हेतु अविवाहित रहती थीं, वेद शास्त्रों का दर्शन करने वाली ऋषिकाओं का उल्लेख भी हमें ऋग्वेद मे मिलता है । घोषा लोपमुद्रा, अपाला तथा सूर्या की गणना ऋषिकाओं में की जा सक्ती है । स्त्रियां ललित कलाओ में भी निष्णात होती थी । उस समय पठन सामग्री उपलब्ध नहीं थी । अतएवं छात्रों को आचार्य के द्वारा पढ़ाये गये पाठों को बार बार दोहरा कर कंठस्थ करना पड़ता था । ऋग्वेद में श्रवण इन्द्रियों को विशेष महत्व दिया गया है । स्वाभाविक रूप से प्रवचन और उच्चारण पर बहुत अधिक ध्यान दिया जाता था । शिक्षा का मूलभूत आधार तप था और तप आत्म दर्शन की कुंजी था । ऋषियों के आश्रम में प्रवेश करने वाला छात्र स्वयं अपनी जीविका उपार्जन का मार्ग चुनता था। ऋषि धन लोलुप नहीं होते थे । उनके आश्रम के रहन-सहन की व्यवस्था समाज के द्वारा की जाती थी। ऋग्वेद मे विद्यार्थी के लिए ब्रह्मचारी शब्द का प्रयोग किया गया, जिसका अर्थ है कि ब्रह्म को जानना ही शिक्षा का मुख्य उद्देश्य था । उत्तर वैदिक काल में वेदाध्ययन स्वाध्याय कहलाता था । शतपथ ' ब्राह्मण तथा ' क्षत्रिय' आरण्यक में इसके माहात्म्य का वर्णन है । इस युग में स्नातकों को वेदों के अध्ययन के साथ-साथ 18 शिल्पों का भी ज्ञान था । इन शिल्पों में धनुर्विद्या, युद्धकला, आर्युवेद, रथ-संचालन, संगीत नृत्य आदि सम्मिलित थे ।

छात्रों के नाम आचार्यों के नाम से पहचाने जाते थे । पाणिनी के छात्र पाणिनीय कहलाते थे। वेद पाठ करने वाले गुरु को श्रोतिय कहकर पुकारा जाता था । वैदिक विद्यालयों को चरण कहकर सम्बोधित किया जाता था । उत्तर वैदिक काल के पश्चात् वेदांग, धर्म सूत्रों, उपनिषदों, इतिहास आदि विषयों का ज्ञान भी कराया जाता था । डा. वासुदेव शरण अग्रवाल ने भी पाणिनि के आधार पर दो प्रकार की शिक्षा पद्धति (1) जानपदी (पेशेवर लोगों की शिल्पशिक्षा) (2) साहित्य की शिक्षा का वर्णन किया है । उत्तर वैदिक युग में आचार्यों ने परिषद शाखा और चरण, कुल, गोत्र आदि के रूप में अलग अलग संघ स्थापित कर लिये थे । राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार, ये सभी असेम्बली, एकेडमी, साहित्यिक अथवा धार्मिक गिल्ड के रूप में थे जो वैदिक ज्ञान से स्कूलों का काम करते थी । जिनमें वह पीढ़ी दर पीढ़ी ज्ञान संरक्षित रहता था । इनमें से किसी ने शिक्षण संस्था नहीं बनायी । अध्यापक का घर ही पाठशाला था। इन घरेलू शिक्षा संस्थाओ के अतिरिक्त कुछ ऐसे विद्वान भी होते थे जो स्थान स्थान में जाकर ज्ञान का प्रचार करते थे । बृहदारण्यक उपनिषद मे इन विद्वानों को चरक कहा गया है । इसके अतिरिक्त कभी - कभी राजा व शासक विद्वत्सभाये भी करते थे । इसमें तत्वचिन्तन सम्बन्धी कठिन प्रश्नों पर विचार करने के लिये विश्रुत विद्वानों को आमंत्रित किया जाता था । वस्तुत : भारत में शिक्षा - संस्थाओं का जन्म- सर्वप्रथम बौद्धबिहारों में हुआ ।

22.3.2 उत्तर वैदिक काल से पूर्व मध्यकाल तक स्थिति

मौर्य काल तक शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को समाज के एक उपयोगी अंग के रूप में बनाने का था, ताकि वह अपने जीवन का सार्थक बना सके । उपनयन संस्कार विद्यार्थी के जीवन में एक महत्वपूर्ण अवसर माना जाता था । इस समय पढ़ने लिखने के साथ साथ गणित की भी जानकारी कराई जाती थी। व्याकरण का अध्ययन प्रारम्भिक अवस्था में अनिवार्य था । लिखने का अभ्यास मिट्टी अथवा रेत की भूमि पर तेज नोक वाली लकड़ी से कुरेदकर किया जाता था । लेखन मे अभ्यस्त होने के बाद कील के द्वारा भोज पत्रों पर लिखना सिखाया जाता था । इसी समय संख्या की भी शिक्षा प्रारम्भ हो गई थी । भोजन के लिए विद्यार्थी को शिक्षा मांगनी पड़ती थी, इससे यह भावना जागृत होती थी कि विद्यार्थी जीवन के उसके भरण पोषण का दायित्व समाज का था, और शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् वह समाज के प्रति कर्त्तव्य निभाते हुए ऋण से उऋण होने का प्रयास करता था । इस प्रकार शिक्षा और शिक्षण संस्थाओं में अधिक धन व्यय नहीं किया जाता था । स्मिथ ने लिखा है कि अशोक के समय में भारतवर्ष में शिक्षा का प्रतिशत दर ब्रिटिश कालीन शासन के अधीन, अनेक प्रान्तों की दरों से, बहुत अधिक ऊँचा था । मौर्य काल भारतीय इतिहास का साहित्य सृजन का युग था । इस काल में सूत्र ग्रन्थों की रचना की गई । लौकिक साहित्य में भावों द्वारा लिखित नाटक ओर कौटिल्य का अर्थशास्त्र सर्वाधिक प्रसिद्ध है । मौर्य काल में ही रामायण और महाभारत के कुछ अंशों का परिवर्द्धन किया गया था । मिलिन्द पाठ में चतुर्वर्णो के अध्ययन के विषयों का उल्लेख है । औद्योगिक शिक्षा का भी सम्यक प्रचार था । इस युग में दो लिपियाँ प्रचलित थी-ब्राह्मी और खरोष्टी । खरोष्टी लिपि दाहिनी ओर से बाई ओर लिखी जाती थी । इस लिपि का प्रयोग अशोक महान ने अपने पश्चिमोत्तर प्रदेश के अभिलेखों में किया है । शेष भारत में ब्राह्मी लिपि प्रयोग में ली जाती थी। यह बाई ओर से दाईं ओर लिखी जाती है । इस लिपि के द्वारा ही आधुनिक युग में लिपि का विकास हुआ है जिसका प्रयोग हम इस समय करते है ।

गुप्त काल मे ब्राह्मणोत्तर व्यक्ति ही शिक्षक बन सकते थे । शिक्षण संस्थानों को गाँव के लोग बैल तथा अन्य पशुधन अनुदान के रूप में प्रदान करने लगे थे । अध्यापक को आचार्य और उपाध्याय कहकर सम्बोधित किया जाता था । विद्वान अध्यापकों को भट्ट की उपाधि से सम्बोधित किया जाता था । चारों वेदों के विद्वानों को चतुर्वेदी के नाम से सम्बोधित किया जाता था । उस समय तक पाटलीपुत्र, वल्लभी, उज्जैनी, पदमावती, प्रवरपुर इत्यादि शिक्षा केन्द्र. बन चुके थे । काशी, मथुरा और अयोध्या में वैदिक मंत्रों और सूत्रों के प्रकाण्ड पंडित निवास करते थे । छठी शताब्दी में नालन्दा शिक्षा का प्रमुख केन्द्र बन चुका था । इसमें महायान सम्प्रदाय के धर्म ग्रन्थों की विशेष शिक्षा का प्रबन्ध था । लेकिन साथ ही हिन्दू और जैन दर्शन का अध्ययन और अध्यापन भी होता था । इस विश्व विद्यालय में देश विदेश के छात्र अध्ययन करते थे । उनके भरण पोषण का व्यय गाँव से होने वाली आय के द्वारा चलता था । गुप्त शासक भी इस विद्यालय को मुक्त हाथ से दान दिया करते थे । समकालीन चीनी यात्री युवान व्याग ने लिखा है कि इस विद्यालय की प्रवेशिका परीक्षा इतनी कठिन होती थी कि 10 में से 2 या 3 प्रत्याशी ही शिक्षा प्राप्त करने के लिए भर्ती किये जाते थे । इस युग में शिल्प शिक्षा शिल्पियों के द्वारा अपने परिवार में ही दी जाती थी । हर्ष के काल में प्रारम्भिक शिक्षा देने वाले अध्यापकों को

द्वारकाचार्य कहकर सम्बोधित किया जाता था और शिक्षण संस्थाओं को लिपिशालाएं कहकर संबोधित किया जाता था । ऐसी लिपिशालाएं प्राय: प्रत्येक गाँव में थीं । 250 ई. तक भारत में प्राकृतों का जोर रहा । तत्पश्चात संस्कृत का प्रचार बढ़ गया । संस्कृत राज्य भाषा बन गयी, जन साधारण प्राकृत (शौर सेनी + भमागधी) का प्रयोग करते रहे । इस काल मे संस्कृत का ऐसा प्रचार हुआ जैसा यूरोप के पुनर्जागरण के बाद लैटिन व ग्रीक ग्रन्थों के शोध से । तत्कालीन उच्चशिक्षा के वितरण में चार प्रकार की संस्थाएं थीं - बौद्धमठ, प्रधान नगर, तीर्थ स्थान तथा ' अग्रहार' ग्राम शिक्षालय । इत्सिंग के अनुसार इन मठों में दो प्रकार के विद्यार्थी पढ़ते थे " मानव" एवं 'ब्रह्मचारी' । 'मानव' वे विद्यार्थी थे जिनका उद्देश्य बौद्ध ग्रन्थों के अध्ययन के पश्चात् भिक्षुओं का जीवन व्यतीत करना होता था । 'ब्रह्मचारी' वे विद्यार्थी होते थे जो सामान्य विद्याओं का अध्ययन संसार में प्रवेश करने की तैयारी के लिये करते थे । ये मठ जन शिक्षा के केन्द्र थे । 'अग्रहार' ऐसे गांव थे जिन्हें शासक दान में विद्वानों या शिक्षकों को प्रदान करते थे । हर्ष की मृत्यु के बाद पर मार वंश के शासक राजा भोज ने सरस्वती कंठा भरण नामक पुस्तक की रचना की थी, जिसमें अलंकार, छंद और नाट्य शास्त्र के सम्बन्ध में वर्णन है । अश्वशास्त्र पर भी राजा भोज ने शाली-होत्र नामक ग्रन्थ लिखा था । राजा भोज ने अपने दरबार में धनपाल और उत्कंठ नामक संस्कृत के विद्वानों को राजाश्रय प्रदान किया था । राजस्थान में भी इस युग में बीसलदेव विग्रहराज चौहान ने अपनी राजधानी अजमेर में सरस्वती कंठाकरण विद्यालय स्थापित किया था । इसमें देश के विभिन्न भागों के छात्र अध्ययन करने के लिये आते थे । पृथ्वीराज तृतीय, के शासन काल में अजमेर में संस्कृत भाषा के कश्मीरी पण्डित और अन्य विद्वान राजाश्रय प्राप्त किये हुए थे । इस प्रकार स्पष्ट है कि भारत में बारहवीं शताब्दी में, मुस्लिम राज्य स्थापित होने से पहले, शिक्षा प्रणाली की व्यवस्था थी जिसके अन्तर्गत राजाओं के सहयोग के साथ साथ सम्भवतः जन साधारण का भी सहयोग था । शिक्षा प्रणाली धर्म से सम्बद्ध थी । प्राथमिक शिक्षा गाँव के मंदिरों में पुजारियों के द्वारा दी जाती थी । पूर्व मध्यकाल में शिक्षा की व्यवस्था अधिकांश में प्राचीन स्मृतिकारों के आदेशों के अनुसार ही चलती रही परन्तु उसमें कुछ मूलरूप से अन्तर आ. गये थे । प्रथम, भिन्न वर्गो के शिक्षण पर प्रतिबन्ध लग गये थे । सामान्य रूप से निम्न वर्ग के लोगों को शिक्षा से वंचित कर दिया गया था । द्वितीय, स्त्रियाँ भी उतरोत्तर इस लाभ से वंचित हो गयी थी । इस युग में सामान्य वर्ग व सामान्य स्त्रियाँ अशिक्षित होती गयीं । स्वयं मेघातिथि ने स्त्रियों के संस्कृत न जानने की बात कही है और बाल विवाहों के प्रचार होने के कारण ऐसा होना अनिवार्य ही था । व्यावसायिक शिक्षा का उल्लेख इस युग की किसी भी स्मृति में नहीं दिया गया है । सम्भवतः: श्रेणी और अन्य व्यावसायिक संस्थाएं ही उसकी व्यवस्था करती होंगी ।

22.4 मध्यकाल में शिक्षा का स्तर

सल्तनत की स्थापना के पश्चात् दिल्ली के प्रारम्भिक सुल्तानों ने मुस्लिम प्रजा के बच्चों की शिक्षा के लिए मखतब और मदरसे स्थापित किये थे । प्रत्येक मास्वद के साथ एक मखतब सम्बद्ध किया गया था, जिसमें कुरान की शिक्षा के अतिरिक्त फारसी भाषा का भी लिखना पढ़ना सिखाया जाता था । दिल्ली, आगरा, फिरोजाबाद इत्यादि बड़े नगरों में, जहाँ मुस्लिम सम्प्रदाय की आबादी अधिक थी, मदरसे स्थापित किये गये थे । दिल्ली के प्रथम मदरसे का नाम मदरसा-ए-नसीरिया रखा गया

था । और इसके प्रथम प्रधानाचार्य तबकाते नासिरी का लेखक मिनहाज सिराज था । इस मदरसे में साहित्य, काव्य शास्त्र, दर्शन और अन्य विषयों की शिक्षा दी जाती थी । दिल्ली के मदरसे में कई भागों से विद्वान आकर शिक्षा ग्रहण करते थे ।

भारत पर आक्रमण करने वाले सुप्रसिद्ध महमूद गजनवी के साथ अलबेरूनी नामक विद्वान भी आया था, जिसने भारत में प्रचलित संस्कृत भाषा और साहित्य का अध्ययन किया था । अलबेरूनी ने अपनी कृति तहकीके-ए-हिन्द में संस्कृत साहित्य के अध्ययन- अध्यापन की सिफारिश की थी। जलालुद्दीन खिलजी, जो एक धर्मनिष्ठ सुल्तान था, उसने अपने शासन काल में अमीर खुसरो को पहले दिल्ली के पुस्तकालय का अध्यक्ष नियुक्त किया । फिरोज तुगलक और सिकन्दर लोदी जैसे शासकों के शासनकाल में संस्कृत भाषा के महत्वपूर्ण ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद करवाया गया । अनुवादित पुस्तकें अधिकांशत: वे थीं जिनका व्यावहारिक महत्व था । बंगाल के सुल्तानों के संरक्षण में भी संस्कृत भाषा के कतिपय ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद करवाया गया ।

सल्तनत काल में पर्दा प्रथा घर करने लग गई थी । अतएव स्त्री शिक्षा बहुत अधिक संकुचित हो गयी थी । इसलिए केवल उच्च वर्ग के लोग ही नारी शिक्षा को आने निवास स्थान पर निजी अध्यापकों के द्वारा आयोजित कर सकते थे । यह स्थिति सन् 1200 से लेकर सोलहवीं शताब्दी के प्रथम चरण तक रही जब बाबर ने 1526 ईस्वी में 'भारत में मुगल राजवंश की स्थापना की थी।

मुगल युग में (1526 से 1757 के बीच) हिन्दू अपने बच्चों को पांच वर्ष की आयु प्राप्त कर लेने के बाद विद्या अध्ययन के लिए पाठशालाओं में भेज देते थे, लेकिन मुसलमान अपने बच्चों को 4 वर्ष 4 माह और 4 दिन की आयु प्राप्त कर लेने के बाद ही मखतब भेजते थे । शिक्षा की यह व्यवस्था केवल धार्मिक एवं उच्च वर्ग के लिए ही थी । श्रमिकों, कृषकों और अछूतों के बच्चों के लिए शिक्षा की समुचित व्यवस्था नहीं थी । इसीलिए लोगों में यह प्रवृत्ति उत्पन्न होने लगी थी कि बच्चों के होश संभालते ही किसी व्यवसाय में लगा दिया जाए । शिल्पकार और व्यापारी अपने बच्चों को होश संभालने के बाद पैतृक व्यवसायों पर ज्ञान प्राप्त करने के लिए बाध्य करते थे । लेकिन हिन्दु ओर मुसलमान जाति की शिक्षण संस्थाओं में नि: शुल्क शिक्षा की प्रणाली इस काल में भी प्रचलित थी । हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही शिक्षा को एक महान् धार्मिक कर्तव्य समझते थे । इसीलिए समाज में गुरुओं, पुरोहितों, उस्तादों, मौलवियों का विशेष सम्मान था । विद्यार्थी अपने गुरु के प्रति श्रद्धा और भक्ति रखते थे। नियमित और निश्चित अवधि तक विद्यार्थियों को अध्ययन करने के लिए बांधे रखने की परम्परा समाप्त हो गई थी । केवल प्रतिभा सम्पन्न, योग्य ओर कुशाग्र बुद्धि छात्र ही निश्चित अवधि के पश्चात विद्याध्ययन करते रहते थे । विद्यार्थियों के लिए किसी प्रकार की नियमित परीक्षा प्रणाली नहीं थी। छात्रों को ज्ञान अर्जन के पश्चात् उसकी योग्यता, विद्वता, प्रतिभा के आधार पर उपाधि प्रदान की जाती थी ।

प्रत्येक छात्र के साथ उसके गुरु, उस्ताद अथवा विद्यालयों का नाम सम्बद्ध होता था । जो विद्यार्थी जितनी अधिक गौरवशाली शिक्षण संस्था का छात्र होता था, उसे उतना ही अधिक योग्य और निपुण समझा जाता था । अकबर ने प्राथमिक शिक्षा का समुचित गठन किया । उसने उसके समय के पाठ्यक्रम पाठ्य ग्रन्थों का निश्चित उपबन्ध किया । अकबर का आदेश था कि प्रत्येक बालक पहले वर्णमाला पढ़े । उसका उच्चारण एवं आकार सीखे । फिर संयुक्त अक्षर सीखे। तत्पश्चात कुछ समय बाद वह कुछ गद्य और पद्य याद करे । फिर ईश्वर की प्रशंसा में कुछ कविताएं याद करे । कुछ नैतिक

वाक्य कंठाग्र करे । बाद में शनै : शनै: वह पद्य लिखने का अभ्यास करे । अध्यापक को पांच चीजें देखनी चाहिये - अक्षर ज्ञान, शब्दार्थ, पद्य रचना, कविता, पहला पाठ । प्रत्येक बालक को नीति सम्बन्धी पुस्तकें, गणित, कृषि, ज्यामिति, ज्योतिष, शरीर विज्ञान, गृह सम्बन्धी कार्य, शासन नियम, वैद्यक, तर्क, इतिहास आदि पढ़ना चाहिये । अकबर को शिक्षा के संगठन में मीर फतह उल्ला शीराजी से बड़ी प्रेरणा मिली। अकबर ने प्रथम बार शिक्षा को धर्म के अतिरिक्त स्वरूप देने का प्रयास किया । अकबर की शिक्षा पद्धति के कारण बहुत से हिन्दू फारसी पढ़ने लगे और मुसलमान संस्कृत व हिन्दी ।

भारत में, प्राचीन पद्धति के समान मध्य काल में भी शास्त्रार्थ, वाद विवाद इत्यादि का आयोजन किया जाता था और उस समय छात्रों की योग्यता और विद्वता का मूल्यांकन किया जाता था । मुगल काल में दिल्ली, आगरा के अतिरिक्त लाहौर, फतेहपुर सीकरी आदि स्थानों पर भी अनेक विद्वान निवास करते थे । इनमें शिक्षण का कार्य उलेमा वर्ग के हाथों में था । दिल्ली में अकबर की धाय माहम अंगा ने अपने नाम से मदरसा-ए-बेगम स्थापित किया था । जहाँगीर के शासन काल में लाहौर शिक्षा का विशिष्ट केन्द्र बन गया था । औरंगजेब के शासन काल में दिल्ली, आगरा और लाहौर के मदरसों में दूर-दूर से विद्यार्थी विद्या अध्ययन के लिए आते थे । मुगल काल में सिन्ध प्रान्त का थट्टा नगर मुस्लिम राजनीति और दर्शन शास्त्र का विशिष्ट केन्द्र बन गया था ।

सुजान राय खत्री ने अपने ग्रंथ खुलासूत-उत-तवारीख में लिखा है कि स्यालकोट नगर इस्लामी शिक्षा का बहुत बड़ा केन्द्र था । पूरब में पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद से ही जौनपुर को इस्लामी शिक्षा और संस्कृति का केन्द्र माना गया था । उत्तर भारत में अम्बाला, ग्वालियर, इलाहाबाद और लखनऊ में तथा दक्षिण भारत में बीजापुर और गोलकुण्डा में मखतब और मदरसे स्थापित हो चुके थे ।

मुगल काल में हिन्दुओं ने भी संस्कृत के अध्ययन, अध्यापन एवं साहित्य सृजन के लिए कतिपय विद्यापीठ स्थापित किये थे । इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध काशी का विद्यापीठ था । शाहजहाँ के शासनकाल में भारत की यात्रा करने वाले विदेशी यात्री बर्नियर ने लिखा है कि " काशी के विद्यालय यद्यपि यूरोपियन विश्वविद्यालयों के समान नहीं है, फिर भी, वहां घर में नियमित कक्षाएं लगती हैं। यहां के स्कूल यूरोप के प्राचीन स्कूलों के समान है, जहां गुरुजन अपने घरों में अलग अलग पढ़ाया करते थे । " समकालीन ग्रंथो में इस प्रकार के विवरण आये हैं कि महाराष्ट्र के अनेक ब्राह्मण काशी आकर शिक्षा प्राप्त किया करते थे । नदियाँ भी हिन्दू शिक्षा का केन्द्र था जहां दूर-दूर से विद्यार्थी आकर शिक्षा प्राप्त करते थे । उत्तर में काश्मीर संस्कृत शिक्षा का एक प्रमुख केन्द्र था। इसके अतिरिक्त, मिथिला, त्रिहुत, हरिद्वार, अयोध्या, मुल्लान, सरहिन्द एवं उज्जैन शिक्षा में महत्वपूर्ण और प्रसिद्ध केन्द्र थे ।

अकबर के शासन काल में, जब भारत में ईसाई पादरियों का आगमन हो गया, सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में ईसाई धर्म प्रचारकों ने लाहौर में एक स्कूल खोला था, जिसे जहांगीर के शासन काल में 50 रुपये मासिक अनुदान दिया जाता था । यह स्कूल मूल रूप से अमीरों और सरदारों के बालकों के अध्ययन के लिए खोला गया था। जहांगीर के शासनकाल में ईसाई धर्म प्रचारकों ने आगरा नगर में भी इस प्रकार का स्कूल खोला था। ये स्कूल ईसाई धर्म प्रचार का कार्य मूल रूप से करते थे।

मुगल काल में पर्दाप्रथा जटिल हो गयी थी । इसलिए स्त्री शिक्षा का अधिक प्रचार नहीं रहा था। स्वाभाविक रूप से साधारण जनता की बालिकाएँ और स्त्रियां अशिक्षित रहती थीं, लेकिन सम्पन्न

परिवार और उच्च वर्ग की कन्याओं के लिए शिक्षा की सुविधा उपलब्ध थी । राजमहलों और धनिक वर्ग के आवासों में स्त्री शिक्षा की सुविधा निजी गुरुओं के द्वारा कराई जाती थी। कुछ महिला अध्यापिकाएँ भी शिक्षण कार्य करती थीं, जिनका उल्लेख समकालीन तवारीखों में मिलता था । शाहजहाँ की पुत्री जहाँ आरा, औरंगजेब की पुत्री जेबुन्निसा, हफीजा मरियम, सती उन्निसा ऐसे नाम हैं जो मुस्लिम बालिकाओं को अरबी और फारसी भाषा की शिक्षा देते थे । वे कुरान को कंठस्थ कराती थीं । इस युग में नारी को धर्म शास्त्र और साहित्य के अतिरिक्त प्रारम्भिक गणित का ज्ञान भी कराया जाता था । हूमायूँ की बहिन गुलबदन बेगम एक विदुषी नारी थी, और बुद्धिमती लेखिका थी । नूरजहां, मुमताज़ महल, जहांआरा, रोशनआरा, जैब्बुनिशा आदि शिक्षित और सुसंस्कृत नारियाँ थी । अहमद नगर की चांद बीबी ने तो नूरजहां बेगम के समान तत्कालीन राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लिया था । जैब्बुनिशा शायरी करती थी । लेकिन यह मुट्ठी भर उदाहरण हैं, क्योंकि मध्यम और निम्न वर्ग की कन्याएँ अशिक्षित थीं ।

22.5 ब्रिटिश काल में शिक्षा में आये परिवर्तन

अठारहवीं शताब्दी तक हिन्दू और मुस्लिम राज्यों की राजधानियों में शिक्षा के केन्द्र निष्क्रिय हो चुके थे । राजनैतिक उथल पुथल के कारण देश में ऐसा वातावरण नहीं था कि शिक्षक और शिक्षार्थी अध्ययन-अध्यापन का कार्य कर सकें । राजनैतिक शक्तियों के पतन के साथ साथ निजी स्कूलों को भी धनी परन्तु दानी व्यक्तियों के द्वारा जो आर्थिक अनुदान मिलता था वह भी समाप्त हो चुका था। वारेन हैस्टिंग्ज ने 21 फरवरी, 1784 के दिन ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के निर्देशक मंडल को पत्र लिखकर उत्तर और दक्षिण भारत की शिक्षण संस्थाओं की दयनीय स्थिति से अवगत कराया था ।

1765 के बाद कम्पनी ने पहली बार अपना उत्तरदायित्व स्वीकार किया था कि शिक्षा का प्रचार प्रसार उसका नैतिक कर्तव्य है । इसके पश्चात् बुकानन्द के जनरल विशप हरवल की एमड रिपोर्ट में उन देशी भाषाओं की पत्र पत्रिकाओं का उल्लेख किया गया जो अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अपना राजनैतिक प्रभुत्व को बढ़ाने के लिए प्रयत्न कर रहे थे । एफ. डब्ल्यू टॉम्स ने लिखा है कि " उन्हें (अंग्रेजों को) भारतवर्ष में प्राथमिक तथा उच्च शिक्षा की फैली हुई व्यवस्था मिली थी । उसमें प्राथमिक शिक्षा प्रधानतः व्यावहारिक थी, जबकि उच्च शिक्षा प्रधानतः : दार्शनिक, साहित्यिक व धार्मिक थी " । इसके उपरान्त भी, 1813 तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी के निर्देशक-मंडल ने भारत के निवासियों के लिए नये ढंग की शिक्षा की उन्नति को अपने कर्तव्य के रूप में स्वीकार नहीं किया । लेकिन यह सत्य है कि निम्नलिखित चार शक्तियां शिक्षा के प्रचार के लिए कार्यशील थीं और उनके दबाव के कारण ही कम्पनी सरकार को शिक्षा के विकास का कार्य हाथ में लेना पड़ा था :

(1) ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कुछ सिविल अधिकारी प्रयत्न कर रहे थे कि भारतवर्ष में शिक्षा का प्रचार किया जाए ।

(2) ईसाई धर्म प्रचारक भी शिक्षा के प्रचार-प्रसार में जुटे हुए थे ।

(3) कुछ परोपकारी और सार्वजनिक भावना से ओतप्रोत भारतवासी भी यह प्रयत्न कर रहे थे कि शिक्षा को जन साधारण के लिए उपलब्ध कराया जाए ।

(4) ब्रिटिश सरकार ने जो प्रशासनिक व आर्थिक परिवर्तन लागू किये उनके परिणामस्वरूप भी नयी शिक्षा की आवश्यकता हुई ।

इसका परिणाम यह हुआ कि 1781 में कलकत्ता में एक मदरसा स्थापित किया गया । इसका उद्देश्य था कि बहुसंख्यक बाबुओं के पदों पर कार्य करने के लिए भारतवासियों को आवश्यक शिक्षा प्रदान की जाए । 1798 में बनारस के अंग्रेज रेजीडेन्ट जोनाथन डंकन ने काशी में एक संस्कृत कॉलेज खोला। उसका उद्देश्य हिन्दुओं को कानून, साहित्य और धर्म का अध्ययन कराकर इस योग्य बनाना था कि वे यूरोपियन जजों के लिए जूरी (विधि सहायक) के रूप में कार्य कर सकें । इसी क्रम में 1784 में कलकत्ता में न्यायमूर्ति सर विलियम जॉन्स के सहयोग से वारेन हेस्टिंग्स ने बंगाल एशियाटिक सोसायटी स्थापित की । इसका उद्देश्य था कि प्राचीन भारतीय साहित्य एवं दर्शन की पाण्डुलिपियों को प्रकाशित कराकर यूरोपवासियों तक पहुँचाया जाए । इस प्रकार, 1773 से 1790 के बीच सर चार्ल्स ग्रान्ट ने मुक्त हाथ से आर्थिक अनुदान उपलब्ध कराकर कम्पनी सरकार को शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिए धन उपलब्ध कराया । 1792 में चार्ल्स ग्रान्ट कम्पनी का निर्देशक बन गया । तब उसने भारतवासियों के लिए अंग्रेजी शिक्षा के अध्ययन का प्रस्ताव रखा और उसे क्रियान्वित करवाने में भरपूर सहयोग दिया।

इस बीच कतिपय मिशनरी (कैरी, टौम्स, मार्शमैव और वार्ट) ने कलकत्ता से 16 मील के फासले पर श्रीरामपुरा में भारतीय शिक्षा और धर्म परिवर्तन के लिए मिशनरी संस्था स्थापित की । इन लोगों ने एक कागज का कारखाना भी खोला और छापाखाना भी स्थापित किया । बाईबल का अनुवाद 26 देशी भाषाओं में प्रकाशित किया गया । फोर्ट विलियम कॉलेज स्थापित किया गया, जिसमें कैरी बंगला भाषा का प्राध्यापक बन गया । लेकिन वास्तव में बंगाल में शिक्षा के प्रचार का उल्लेखनीय कार्य डेविड हैअर के द्वारा किया गया था। शप कॉलेज नाम से एक मिशनरी संस्था 1820 में कलकत्ता में स्थापित की गई । इससे प्रेरणा लेकर कतिपय प्रबुद्ध भारतवासियों ने शिक्षा के प्रसार की ओर ध्यान दिया। इसमें राजा राममोहन राय, राजा राधा कांत देव, जयनारायण घोषाल आदि प्रमुख थे । घोषाल जी ने बनारस में अंग्रेज़ी, फारसी, हिन्दी और बंगाली भाषा की शिक्षा के लिए एक स्कूल खोला । राजा राममोहन राय ने कलकत्ता सुप्रीम कोर्ट के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश सर हाईड ईस्ट के सहयोग से कलकत्ता में हिन्दू महाविद्यालय और हिन्दू कॉलेज स्थापित किया । बाद में इसी का नाम प्रेसीडेन्सी कॉलेज हो गया । 18 मई, 1816 के दिन सर हाईड ईस्ट ने अपने एक मित्र को पत्र के द्वारा सूचित किया था कि हिन्दू कॉलेज की स्थापना का मुख्य श्रेय राममोहन राय को है । लेकिन राममोहन राय कुछ समय के बाद इस संस्था की प्रबन्ध समिति से अलग हो गये । उन्होंने 1816- 17 में हिन्दू बच्चों की निःशुल्क शिक्षा के लिए कलकत्ता के सूरीपाडा में एक अंग्रेजी स्कूल की स्थापना की । इंग्लैण्ड में विल्वर फोर्स और उनके साथी सरकार पर दबाव डाल रहे थे कि भारतवर्ष में अंग्रेजी शिक्षा प्रारम्भ की जाए । परिणाम स्वरूप लाड मिन्टो प्रथम ने 6 मार्च 1811 के दिन एक घोषणा प्रकाशित की और लोगों का आह्वान किया कि शिक्षा की दयनीय स्थिति में सुधार लाने के लिए प्रस्ताव गर्वनर जनरल को भेजे जाएं । 1813 के ईस्ट इण्डिया कम्पनी के चार्टर में प्रावधान किया गया कि भारत वर्ष में शिक्षा के प्रचार का उत्तरदायित्व कम्पनी सरकार का है तथा इसके लिए सरकारी कोष से धन उपलब्ध कराया जाएगा । इसी ऐक्ट के द्वारा गर्वनर जनरल को यह अधिकार दिया गया था कि वह एक लाख रुपये वार्षिक की रकम शिक्षा के प्रचार में लगाएं । इसी क्रम में 1815 में लार्ड हैंस्टिग्स ने भी यह स्वीकार किया था कि भारतवासियों को शिक्षित किया जाए । इसीलिए 1823 में दो शिक्षण संस्थाओं

को आर्थिक अनुदान दिया गया । पहली संस्था कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी थी। हैंस्टिग्स ने 1823 मे भारत से प्रस्थान कर जाने के बाद उसके उत्तराधिकारी एडम ने एक कमेटी ऑफ पब्लिक इन्हट्रक्शन स्थापित की । होरेस पेन विल्पनन को इसका मंत्री नियुक्त किया गया । लेकिन इस कमेटी को शिक्षा के माध्यम से सम्बन्धित कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा । उस समय राजा राममोहन राय ने 11 दिसम्बर, 1823 के दिन तत्कालीन गर्वनर जनरल लॉर्ड एमहर्स्ट को एक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने विशुद्ध संस्कृत को शिक्षा का माध्यम बनाने का विरोध किया और अंग्रेजी को माध्यम बनाने का समर्थन किया । ऐसा लगता है कि. राममोहन राय के प्रतिवाद की सरकार ने परवाह नहीं की, क्योंकि 1824 में कमेटी के सुझाव पर ही कलकत्ता में संस्कृत कॉलेज स्थापित किया गया । दिल्ली में मी एक कॉलेज 1825 में स्थापित किया गया । ये परिस्थितियां 1634 तक चलती रहीं, जब लार्ड मैकाले को कमेटी ने पब्लिक इन्हट्रक्शन का अध्यक्ष नियुक्त किया। मैकाले ने 2 फरवरी, 1835 के दिन एक घोषणा प्रकाशित की, "प्राच्य साहित्य जिसके विषय मे उनको कोई जानकारी नहीं थी उसे माध्यम बनाने की, वह निन्दा करते हैं । पश्चिमी व्यवस्था और शिक्षा के विषयों को भारत में प्रचलित करना चाहिए ।" लार्ड मैकाले का दृष्टिकोण राजा राममोहन राय के दृष्टिकोण से इस रूप में भिन्न था कि मैकाले अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से ही भारत मे बौद्धिक जागृति लाना चाहता था । लाड मैकाले के विचार से भारतवासियों को अंग्रेजी भाषा पढ़नी चाहिए, क्योंकि वह शक्तिशाली भाषा है । जनवरी 1635. मैं लॉर्ड विलियम बैटिंग को यह काम सौंपा गया कि वह देशी शिक्षा के सम्बन्ध में लोगों के विचारों को जानकर सरकार के सम्मुख प्रस्तुत करे । इसके बाद 7 मार्च 1835 के दिन यह प्रस्ताव पास किया गया कि शिक्षा के निमित्त जो फंड कम्पनी सरकार को उपलब्ध कराये गये थे उसका प्रयोग केवल अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिए ही किया जाए । भविष्य में भी जो धन उपलब्ध होगा, वह इसी कार्य के लिए लगाया जाए और उसका कुछ भाग पुस्तकों के प्रकाशन पर भी खर्च किया जाए ।

लॉर्ड ऑकलैण्ड ने अपने कार्यालय में विलियम बैटिंग की योजना में कुछ परिवर्तन किया । बंगाल एशियाटिक सोसायटी को 500 रुपये महावारी का अनुदान स्वीकृत किया गया । उससे संस्कृत, अरबी और फारसी भाषा की पांडुलिपियों को अनुवाद कराकर निवि-लियोथिका में प्रकाशित करवाया गया।

1842 में पब्लिक इन्स्ट्रक्शन कमिटी का नाम बदलकर कौंसिंल ऑफ एज्यूकेशन कर दिया गया । परन्तु इसकी गतिविधि बंगाल तक ही सीमित थी। 1843 के बीच उत्तरी पश्चिमी सीमान्त प्रान्त के उप राज्यपाल सर जोन टॉम्सन ने हल्काबंदी स्कूल व्यवस्था नामक नया प्रयोग प्रारम्भ किया। इसके अनुसार गांव को पाँच-पाँच के समूह मे बांट दिया गया और प्रत्येक समूह के जमींदार को लगान पर एक प्रतिशत कर स्वेच्छा से अपने हल्के स्कूलों पर खर्च करने के लिए कहा गया । 1653 तक यह प्रथा आठ जिलों में चलती थी । इसके बाद कम्पनी के निर्देशक मंडल ने एक योजना चलाईं कि सरकार और जमींदार दोनो मिलकर शिक्षा के खर्च को चलाया करें । बम्बई और मद्रास में इस योजना का प्रयोग किया गया, लेकिन सभी प्रांतीय सरकारों की नीति, उद्देश्य और कार्यप्रणाली में एकरूपता नहीं थी । अतएव यह व्यवस्था भी असफल हो गई । 1835 में कलकत्ता में एक मेडिकल कॉलेज स्थापित किया गया और रुड़की में टेन्सन के नाम से इन्जीनियरिंग कालेज खोला गया ।

बोर्ड ऑफ कन्ट्रोंल के अध्यक्ष सर चार्ल्स वुड ने जुलाई 1854 में शिक्षा सम्बन्धी डिस्पैच तैयार किया था । आधुनिक भारत के शिक्षा के इतिहास मे वुड-डिस्पैच का बहुत अधिक महत्व है । इसके

द्वारा सरकार का ध्यान आकर्षित किया गया कि अंग्रेजी और देशी भाषा दोनों की शिक्षा का अधिक प्रचार किया जाए और इनकी उन्नति की जाए । चार्ल्सवुड ने यह भी प्रस्ताव रखा था कि शिक्षा की व्यवस्था के लिए एक अलग विभाग स्थापित किया जाए । प्रेसीडेन्सी नगरों में विश्व विद्यालय स्थापित किया जाए । शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए स्कूल स्थापित किया जाएं । नये मिडिल स्कूल स्थापित किये जाए, प्राथमिक शिक्षा के लिए देशी भाषा के स्कूलों की संख्या बढ़ायी जाए । छात्रवृत्ति की व्यापक योजना बनाई जाएं । लोअर स्कूल का सम्बन्ध हायर स्कूल और उसका सम्बंध कॉलेज से. कायम किया जाए । स्त्री शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिए भी सरकार को प्रयत्न करना चाहिए । इस डिस्पैच की सिफारिश के अनुसार प्रत्येक प्रेसीडेन्सी नगर में 1854 में पृथक शिक्षा विभाग की स्थापना की गई । प्रत्येक प्रांत के लिए डायरेक्टर आफ पब्लिक इन्हट्रक्शन नियुक्त किया गया । उनके अधीन इन्सपेक्टर, असिस्टेन्ट इन्सपेक्टर इत्यादि पदाधिकारी नियुक्त किये गये । प्रोफेसर डॉडवेल ने लिखा है कि यह विभाग प्रधानतः : उन लोगों के हाथों में सौंपे गये थे, जो मूल रूप से प्रशासक थे और इसलिए शिक्षा का शनै : शनै : स्वरूप प्रशासन का अंग और कार्यक्रम बन गया ।

1857 के बाद यूनीवर्सिटी ऑफ लन्दन के आरूप (पैटर्न) पर कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में विश्वविद्यालय स्थापित किये गये । लेकिन ये केवल परीक्षा लेने वाले विश्वविद्यालय थे । 1882 में लाहौर में और 1887 में इलाहाबाद में विश्व विद्यालय स्थापित किये गये । प्रत्येक विश्वविद्यालय का एक चांसलर और एक वाईसचांसलर, सीनेट और एक अर्थ संचालन समिति होती थी । यह विश्वविद्यालय सम्बद्ध कॉलेजों के पाठ्यक्रम निर्धारित करते थे तथा उन पर नियंत्रण रखते थे । मैट्रिक की परीक्षा पास करने पर विद्यार्थी को कॉलेज में प्रवेश मिल जाता था । इस प्रकार 1882 तक साढ़े बाईस लाख विद्यार्थी सार्वजनिक शिक्षण संस्थाओं में शिक्षा प्राप्त करने लगे थे । 1882 में लॉर्ड रिपन ने एज्यूकेशन कमीशन नियुक्त किया, जिसके बाईस सदस्य और एक अध्यक्ष सर डबल्यू हंटर थे । इसके कमीशन का प्रधान उद्देश्य प्राथमिक शिक्षा की उन्नति के उपाय सुझाना था । 1882 के बाद जब स्वायत्तशासी संस्थाओं की स्थापना हुई तब नगर पालिकाओं और लोकल बोर्डों को प्राथमिक स्कूलों के संचालन का काम सौंप दिया गया ।

लार्ड कर्जन के कार्यकाल में शिक्षा के विकास के सम्बन्ध में उल्लेखनीय उन्नति हुई थी । जनवरी 1902 में यूनीवर्सिटी कमीशन नियुक्त किया गया और उसकी सिफारिश कर शिक्षा की प्रगति तथा विश्व विद्यालय शिक्षा के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए कार्य किया गया । इस कमीशन के सभापति टॉम्स रोले थे और अन्य दो सदस्य सर्वश्री सैयद हुसैन विलग्रामी तथा गुरुदास बनर्जी थे । इस कमीशन की सिफारिश के अनुसार 1904 में विश्वविद्यालय अधिनियम बनाया गया । इस अधिनियम का मूल उद्देश्य विश्वविद्यालयों पर सरकार के नियंत्रण को सुदृढ़ बनाना था । लेकिन विश्वविद्यालय की सीनेट को भी शक्ति सम्पन्न बनाया गया । यद्यपि उसमें चांसलर के द्वारा मनोनीत सदस्यों की संख्या अधिक थी । इस अधिनियम के साथ सिण्डीकेट भी स्थापित की गई, लेकिन उसमें यह शर्त लगा दी गयी कि जो सीनेट का मेम्बर नहीं रहा है वह सिंडीकेट का मेम्बर नहीं चुना जा सकता । कॉलेजों पर विश्वविद्यालयों के नियंत्रण को और अधिक सुदृढ़ बनाया गया । यह केवल इस प्रकार की व्यवस्था थी जो सरकारीकरण की दृष्टि से महत्वपूर्ण थी । अतएव इस व्यवस्था का सब तरफ विरोध हुआ । कलकत्ता विश्वविद्यालय के वाईस चांसलर सर आशुतोष मुखर्जी ने इसका घोर विरोध किया था । अतएव 1910 में शिक्षा विभाग को गृह विभाग से पृथक कर दिया गया । वायसराय की कार्यकारिणी में हरबर्ट

को पहले शिक्षा सदस्य के रूप में नियुक्त किया गया । 1913 में ढाका और पटना विश्व विद्यालय कायम किये गये । इसके बाद लखनऊ, रंगून, दिल्ली, नागपुर, वॉल्टेयर, चिदम्बरम, बनारस, अलीगढ़ और हैदराबाद में भी विश्वविद्यालय स्थापित किये गये । पूना में भारतीय नारी विश्वविद्यालय स्थापित किया गया । रविन्द्र नाथ ठाकुर ने बोलपुर में शांति निकेतन विश्वविद्यालय स्थापित किया । 1919 में कलकत्ता यूनीवर्सिटी कमीशन की रिपोर्ट भारत सरकार के सम्मुख प्रस्तुत की गई । इसके द्वारा सरकार का ध्यान आकर्षित किया गया कि हाईस्कूल में उदार शिक्षा की व्यवस्था की जाए । इन्टर को स्कूल शिक्षा का ही अंग बना दिया जाय और सम्बद्ध कॉलेजों के संचालन के लिए एक केन्द्रीय शिक्षण संस्था स्थापित की जाए । इस कमीशन की सिफारिशों को प्रांतों में लागू किया गया । 1919 के सुधार अधिनियम के द्वारा शिक्षा हस्तान्तरित सूची में आ गई थी । 1928 में सर फिलिप हरटोक की अध्यक्षता में एक कमेटी का गठन किया गया । उसने यह सुझाव दिया कि शिक्षा पाने वालों की संख्या तो बढ़ गई है और शिक्षा प्रणाली में सुधार भी तीव्र गति से हुआ है लेकिन समूची शिक्षा प्रणाली की व्यवस्था के संचालन की आवश्यकता है । अतएव शिक्षा व्यवस्था का संचालन किया गया ।

इसी समय बुनियादी शिक्षा की मांग उठायी गयी थी । देशी भाषा के माध्यम से शिक्षा की व्यवस्था की भाग पुरजोर शब्दों में उठायी गयी । सरकार का ख्याल था कि उच्च शिक्षा का माध्यम केवल संस्कृत रखा जाए । इस परिस्थिति में 1944 में केन्द्रीय शिक्षा परामर्श मंडल ने सार्जेन्ट योजना प्रस्तुत की । इस योजना के अनुसार प्राथमिक, हाईस्कूलों और बेसिक स्कूलों में निःशुल्क परन्तु अनिवार्य शिक्षा लागू की जाए । 6 से 11 वर्ष तक के बच्चों के लिए एक छः वर्षीय पाठ्यक्रम प्रस्तावित किया गया । इसके बाद हाईस्कूल के पाठ्यक्रम तैयार किया जाए । हाईस्कूल दो प्रकार के होने चाहिए - शैक्षणिक और व्यावसायिक (वोकेशनल) । इस योजना ' ने इन्टर कक्षाओं को समाप्त करने का भी सुझाव दिया था । यह योजना 40 वर्ष के लिए थी जिसे बाद में खेर कमेटी ने घटाकर 16 वर्ष कर दिया था ।

नवम्बर, 1948 में भारत सरकार ने डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन की अध्यक्षता में एक कमीशन नियुक्त किया । इसने अपना प्रतिवेदन अगस्त 1949 में प्रस्तुत किया था । इसके अनुसार -

(1) 12 साल का प्री-यूनीवर्सिटी कोर्स प्रारम्भ किया जाए ।

(2) विश्वविद्यालय में पढ़ाई के कम स कम 180 दिवस होने चाहिए । और इनको तीन सत्रों में विभाजित किया जाए । प्रत्येक सत्र 11 सप्ताहों का हो ।

(3) उच्च शिक्षा के तीन मुख्य उद्देश्य होने चाहिए। सामान्य शिक्षा हो, उदार शिक्षा व्यवस्था हो और व्यवसाय उन्मूख प्रणाली लागू की जाए । कृषि, वाणिज्य, इन्जीनियरिंग, कानून और चिकित्सा की शिक्षा पर अधिक बल दिया जाए । इन्जीनियरिंग और प्राविधिक शिक्षा को राष्ट्रीय धरोहर समझा जाए ।

(4) विश्व विद्यालय की डिग्री की प्रशासनिक सेवाओं के लिए अनिवार्यता नहीं होनी चाहिए ।

(5) परीक्षास विषयों के अनुसार अलग अलग भागों में आयोजित की जाएं ।

(6) परीक्षा प्रणाली के स्तर को ऊँचा उठाया जाए और वह सब विश्वविद्यालयों में एकरूप हो । शिक्षा के विषय को समवर्ती सूची मैं रखा जाएं ।

(7) विश्वविद्यालयों में अध्यापकों के वेतनमान बढ़ाये जायें ।

(8) विश्वविद्यालय की देखभाल के लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग स्थापित किया जाए जो देश के सभी विश्व विद्यालयों के बीच समन्वय बनाये रख सके ।

राधाकृष्णन कमेटी के सुझाव के अनुसार 1953 में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग स्थापित किया गया। 1956 के संसद के अधिनियम के अनुसार इसे स्वायत्तशासी संस्था घोषित किया गया । केन्द्रीय सरकार विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के लिए सरकारी बजट में पृथक से भारी रकम की व्यवस्था करती है । डॉ. सी. डी. देशमुख को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का प्रथम अध्यक्ष नियुक्त किया गया था ।

1935 के अधिनियम ने प्रांतीय स्व-शासन स्थापित करने की सिफारिश की थी । अतएव 1937 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने सात राज्यों में अपनी सरकारें गठित की । 1937 में ही गांधी जी ने अपने समाचारपत्र हरिजन मे बुनियादी शिक्षा के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित किये । इसे वर्धा योजना 'कहकर पुकारते हैं । इस योजना का मूल उद्देश्य "करके सीखना" (learning through activity) था । डॉ. जाकिर हुसैन की अध्यक्षता में नियुक्त कमेटी ने वर्धा योजना की क्रिया प्रणाली को स्पष्ट किया था । इस कमेटी ने क्राफ्ट के लिए पाठ्यक्रम सुझाए थे । अध्यापकों के प्रशिक्षण के योजना प्रस्तुत की और स्कूल के प्रशासन, परीक्षा एवं निरीक्षण के नियमों की विस्तृत रूपरेखा तैयार की । इस योजना का उद्देश्य श्रम के द्वारा उत्पादन था । यह योजना सात वर्ष का पाठ्यक्रम तैयार करने हेतु बनाई गई थी । लेकिन 1939 में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया और कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने त्यागपत्र दे दिये । तब स्वतंत्र भारत की सरकार पर यह उत्तरदायित्व आ गया कि वर्धा योजना को शिक्षा की उन्नति और उसके स्तर की उन्नति के लिए किस रूप में और कब लागू किया जाए ।

भारतीय संविधान में शिक्षा को राज्य सूची में डाल दिया गया था और यह विश्वास व्यक्त किया गया था कि प्रत्येक राज्य अपने स्तर पर शिक्षा पद्धति में आवश्यक संशोधन करके निश्चित कदम उठायेगा । शनै : शनै : यह लगने लगा कि प्रान्तीय स्तर पर किये गये प्रयत्नों विशेषकर उच्च शिक्षा के क्षेत्र में केन्द्रीय स्तर पर एक विशेष दिशा निर्देश की अपेक्षा रखते हैं । फलस्वरूप 1976 ई. में एक (42) संशोधन द्वारा शिक्षा को केन्द्र व राज्य दोनों की सूची में रख लिया गया । वस्तुत: स्वतन्त्र भारत को शिक्षा के क्षेत्र से बहुत ही असंतोषजनक स्थिति उत्तराधिकार में मिली । साक्षरता दर एक शर्मनाक स्तर पर नीचे थी तथा समाज के गरीब, पिछड़े स्वं स्त्रियों की दशा इस सम्बन्ध में और भी खराब थी । इस बल पर आजाद भारत की राजनैतिक व सांस्कृतिक भावना को संवारना बहुत ही कठिन था (आकड़ों के लिए अध्याय 16 देखिये) । उच्च शिक्षा के क्षेत्र में भी सम्पूर्ण भारत में. 1951 ई. में 27 विश्वविद्यालय, 695 कॉलेज तथा विद्यार्थियों की संख्या 3, 96, 7, 45 मात्र थी । साक्षरता दर मात्र 16.7% थी । नव भारत को शिक्षा के माध्यम से न केवल वांछनीय आर्थिक प्रगति करनी थी बल्कि सामाजिक विभिन्नताओं व भेदभावों को मिटाकर एक सम-समाज का निर्माण करना भी था। अपने आप में यह एक चुनौतीपूर्ण कार्य था ।

22.6 पुस्तकालयों की स्थापना एवं उनका क्रमिक विकास

प्राचीन भारत में जिस साहित्य को ताड़ पत्रों पर लिखा गया था, उनको ऋषि, महर्षि अपने पास सुरक्षित रखते थे । यह वंश परम्परागत धरोहर थी । लेकिन जब धार्मिक साहित्य की अभिवृद्धि हुई और अधिक संख्या में धार्मिक ग्रंथ लिखे गये तब पाण्डुलिपियों को सुरक्षित रखने की परम्परा प्रारम्भ

हो गई थी। प्रारम्भ में धर्म सम्बन्धी पांडुलिपियों को मंदिर, चेतालय, जैन अथवा बौद्ध उपासरों को सुरक्षित रखा जाता था । कालान्तर में विदेशी आक्रमणों से इन महत्वपूर्ण साहित्यक कृतियों को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से इनको जमीन के नीचे भंडार बनाकर सुरक्षित रखने की प्रथा प्रारम्भ हो गई थी । इन भंडारों में आधुनिक काल के पुस्तकालयों के समान पुस्तकों का वर्गीकरण करने अथवा उन्हें रसायनिक द्रव्यों के द्वारा सुरक्षित बनाये रखने की प्रक्रिया प्रारम्भ नहीं हुई थी । भंडारों में, बस्तों में बाधकर ये पाण्डुलिपियां सुरक्षित रखी जाती थीं । जैसलमेर और भीनमाल के भण्डारों में ताड़ पत्रों तथा अन्य हस्तलिखित पाण्डुलिपियां सुरक्षित रूप से इस समय भी विद्यमान है ।

मध्य काल में जब दिल्ली के सुल्तानों ने मदरसे खोले तो उन मदरसों में ही संलग्न स्थान पर पाण्डुलिपियों को सुरक्षित बनाये रखनें की परम्परा प्रारम्भ हो गयी थी । प्रेस का आविष्कार यूरोप में तो पन्द्रहवीं शताब्दी में हो चुका था, लेकिन भारत में छापेखाने का प्रारम्भ अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ था । उस समय किसी एक पुस्तक की पाण्डुलिपि की नकलें कराई जाती थीं और वे नकलें निकट सम्बन्धियों अथवा आलिम फाजिलों के बीच बाट दी जाती थीं । वे लोग वंशागुनत ढंग से इस धरोहर को अपने पास सुरक्षित बनाये रखते थे । दिल्ली के अफगान सुल्तान शेरशाह ने अपनी राजधानी दिल्ली में एक भवन का निर्माण इसी हेतु करवाया था, जिसे शेर मंजिल कहा जाता था । इस संग्रह को तरकीब वार ढंग से एक पुस्तकालय के रूप में सुरक्षित बनाये रखने का कार्य शेरशाह सूर के द्वारा किया गया था । शेरशाह की मृत्यु के 15 वर्ष पश्चात् जब हूमायूँ ने भारत पर आक्रमण करके मुगल राजवंश की पुनर्स्थापना की थी, उस समय हूमायूँ शेरमंजिल की सीढ़ियों से फिसलकर मृत्यु का शिकार हुआ था । समकालीन कृतियों में उसकी मृत्यु की दुर्घटना के कारण होने का वर्णन मिलता है । इससे दो तथ्य स्पष्ट होते हैं :

(1) शेरमंजिल कम से कम दो मंजिला इमारत थी तथा

(2) शेरमंजिल एक ऐसा पुस्तकालय था, जिसमें पुस्तकों को सुरक्षित रखने की व्यवस्था की गई थी । ताड़ पत्रों और हस्तलिखित पाण्डुलिपियों को जलवायु और अन्य आकस्मिक घटनाओं से सुरक्षित रखने के मध्य काल के तुर्क अफगान शासकों ने क्या प्रयत्न किये थे, इसकी जानकारी समकालीन कृतियों में उपलब्ध नहीं है लेकिन यह अवश्य प्रमाणित तथ्य है कि मुगल साम्राज्य का संस्थापक बाबर साहित्यक अभिरुचि का सम्राट था । भारत में उसे गाजी खां का पुस्तकालय मिल गया था। उसे उसने सुरक्षित रखने की व्यवस्था की थी । बाबर का पुत्र उत्तराधिकारी हूमायूँ विद्यानुरागी था । वह अपने सैनिक अभियानों के समय शिविर में भी हूमायूँ का पुत्र और उत्तराधिकारी अकबर, यद्यपि निरक्षर था, फिर भी उसे पुस्तकें एकत्रित करना और उन्हें सुरक्षित बनाये रखने का बहुत अधिक शौक था । उसने आगरा में एक पुस्तकालय स्थापित किया था, जिसमें 24, 000 हस्तलिखित पाण्डुलिपियां एकत्रित की गई थी । अकबर के शासन काल में जो पाण्डुलिपियां मौलिक रूप से लिखी गई थीं अथवा अनुदित की गई थीं, उनके हाशियों में सुन्दर चित्र बनाये गए थे । चित्र अलंकृत पाण्डुलिपि शाही पुस्तकालयों में संग्रहित की गई थी । इन पुस्तकालयों के कई ग्रन्थों में टिप्पणियाँ भी लिखी हुई हैं । पुस्तकों को जिल्द बांधकर रखने की परम्परा मुगल काल की ही देन है । इसलिए उस काल के कई चित्रों से अलंकृत ग्रन्थ आज भी सुरक्षित हैं

मुगल बादशाहों की देखा देखी हिन्दू शासकों ने भी अपनी राजधानियों में पुस्तकों को सुरक्षित रखने के लिए पुस्तकालय स्थापित किये थे । सबसे पहला पुस्तकालय आमेर में राजा मानसिंह के द्वारा

स्थापित किया गया था, जिसका विस्तार मिर्ज़ा राजा जयसिंह और सवाई जयसिंह के शासनकाल में हुआ । इसी प्रकार बीकानेर के महाराजा अनूप सिंह ने अनूप संस्कृत पुस्तकालय अपनी राजधानी में स्थापित किया था । जैसलमेर के शासकों ने भी अपने यहीं पुस्तकालय स्थापित किया था । इसी क्रम में जोधपुर के पुस्तक प्रकाशन का उल्लेख करना प्रासंगिक है क्योंकि इसकी स्थापना महाराजा जसवंत सिंह प्रथम के शासन काल में वहां के गढ में की गई थी ।

आधुनिक भारत में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के द्वितीय गर्वनर जनरल वारेन हैस्टिंग्स ने पाण्डुलिपियों को संग्रहीत करके उनके अनुवाद की व्यवस्था करवाई थी। उस समय इस कार्य के लिए रीयल एशियाटिक सोसायटी की कलकत्ता में स्थापना की गई थी। सम्भवतः: ब्रिटिश शासन काल में गर्वनर जनरलों ने प्रेसीडेन्सी नगरों में पुस्तकों को एकत्रित करके उनकी सुरक्षा के लिए पुस्तकालय बनवाये थे । इसीलिए लॉर्ड कर्जन ने अपने कार्यकाल में कलकत्ता में एक राष्ट्रीय पुस्तकालय की स्थापना की थी । यह पुस्तकालय उत्तरोत्तर विकास करता रहा है । अंग्रेजों के शासन काल में यह नियम बना दिया गया था कि कोई भी प्रकाशक किसी भी भाषा में प्रकाशित पुस्तक की कम से कम पांच प्रतियाँ राष्ट्रीय पुस्तकालय मे भेजेगा । इस प्रकार मुगल काल के मुहाफिज़ खाने अंग्रेजों के शासन काल में बड़े बड़े पुस्तकालय बन गये थे ।

22.6.1 पुस्तकालयों की उपयोगिता एवं महत्व: -

पुस्तकालयों की उपयोगिता और महत्व इसी में है कि इनमें वे सन्दर्भ ग्रन्थ सुरक्षित रखे जाते थे जो विद्वानों, न्यायाधीशों इत्यादि के लिए महत्वपूर्ण थे । जो कागजात, फाइलें अथवा प्रशासनिक आदेश किसी एक कार्यालय में अधिक समय तक सुरक्षित नहीं रखे जा सकते, उन्हें 20 या 25 वर्ष के बाद जाँच करके महत्वपूर्ण कागजात के रूप में पुस्तकालय में रख दिया जाता है । अंग्रेजी शासन काल में बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक में हस्तलिखित पाण्डुलिपियों से पुस्तकालय को पृथक करके उन्हें जनपथ पर स्थिति राष्ट्रीय अभिलेखागार में भिजवाना प्रारम्भ कर दिया गया था । वहां पुरालेखीय सामग्री के रूप में पाण्डुलिपियाँ, रसायन उपकरणों के माध्यम से सुरक्षित रख दी जाती हैं जिससे कागज गलने, टूटने, फटने इत्यादि का कोई खतरा नहीं रहता । कुछ वर्षों पहले लेमीनेशन की प्रक्रिया का भी आविष्कार हो चुका है । अतएव पुस्तकें ओर उनकी प्रतियाँ पुरालेखागारों में सुरक्षित हैं । अंग्रेजी शासन काल में ही भारतीय ग्रन्थों को इंग्लैण्ड ले जाया गया था जहां उन्हें इण्डिया हाऊस के पुस्तकालय में संग्रहीत कर दिया गया । इस प्रकार पुस्तकों की उपयोगिता का अपने आप में बहुत अधिक महत्व है । इसके महत्व को शासकों ने समझा, और शाही पुस्तकालय स्थापित किये । पुस्तकों की उपयोगिता को निजी व्यक्तियों ने भी समझा और उन्होंने अपने निजी पुस्तकालय बनाए । व्यापारियों ने भी अपनी पुरानी बहियों को सुरक्षित रखने की परम्परा शायद राजा महाराजाओं से सीख ली थी । चारण भाटों के द्वारा जो कृतियाँ मध्य काल के बाद से लिपिबद्ध की गई वे वंशावलियाँ, वार्तायें, ख्यातें इत्यादि ऐतिहासिक जानकारी के महत्वपूर्ण स्रोत हैं । अतएव पुस्तकालयों का महत्व युग युगीन भारत में, यहाँ के निवासियों ने अनादि काल से लेकर वर्तमान समय तक पहचाना है और इसीलिये पुस्तकों की सुरक्षा हेतु रिकार्ड रुप स्थापित किये गये ।

22.7 इकाई सारांश

उपरोक्त विवेचन से निम्नलिखित तथ्य स्पष्ट होते है :

(1) शिक्षा का उदभव और प्रसार अनादि काल से वर्तमान समय तक मुख्य रूप से धर्म से सम्बद्ध रहा है ।

(2) शिक्षा के प्रसार के लिए धार्मिक स्थलों से संलग्न पाठशालाऐं स्थापित की गयी थीं ।

(3) शिक्षण का कार्य प्रारम्भ में ऋषि, महर्षि वर्ग तक सीमित था । मध्य काल में इसे आलिम फाजिल लोग करते थे । अबुल फजल ने समाज के जिन वर्गो का उल्लेख किया है उनमें अहल-ए-कलम समाज का महत्वपूर्ण वर्ग था ।

(4) शिक्षा के लिए प्राचीन काल में बड़े - 2 विश्वविद्यालय स्थापित किये गये । नालन्दा और तक्षशिला के समान ही सल्तनत काल में मदरसा ए-नसीरिया स्थापित किया गया था । ब्रिटिश शासन काल में सर्वप्रथम कलकत्ता विश्वविद्यालय स्थापित किया गया और उसके बाद विश्व विद्यालयों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गयी । लेकिन शिक्षा कुछ वर्गो तक ही सीमित रही व स्वतंत्र भारत में 80% लोग निरक्षर थे ।

(5) पाठ्यक्रम निर्धारित किये जाने की परम्परा प्रारम्भ से ही थी । प्राचीन काल में गुरुकुल में बालक को वेद का ज्ञान अक्षर ज्ञान के बाद कराया जाता था । मध्य काल और वर्तमान काल के स्कूलों के पाठ्यक्रमों का उल्लेख पूर्व पृष्ठों में प्रसंगवश विस्तार से किया जा चुका है ।

(6) शिक्षा के साथ साथ पुस्तकों को सुरक्षित बनाये रखने के लिए पुस्तकालयों की स्थापना की गयी। उनकी उपयोगिता और महत्व पर उपरोक्त पृष्ठों में यथा स्थान प्रकाश डाला गया है ।

22.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

(अ) निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिये :-

(1) गुरुकुल व्यवस्था का वर्णन कीजिए ।

(2) अध्यापक को युग युगीन 'भारत में किस-किस नाम से सम्बोधित किया जाता है?

(3) नालन्दा, तक्षशिला, मदरसा-ए- नसीरिया और कलकत्ता विश्वविद्यालय में किसी एक के संगठन, शिक्षण प्रणाली पाठ्यक्रम पर प्रकाश डालिए ।

(4) आधुनिक युग में पुस्तकालयों का क्या महत्व है?

(आ) निम्न प्रश्नों का उत्तर 500 शब्दों में दीजिये -

(1) प्राचीन काल में शिक्षा पद्धति का उल्लेख कीजिए ।

(2) मुगल काल में शिक्षा का क्या स्वरूप था?

(3) आधुनिक काल में शिक्षा के क्षेत्र में किस प्रकार के पीरवतन किये गये?

(4) प्राचीन काल से अब तक पुस्तकालयों के निर्माण की दिशा में किस प्रकार की प्रगति रही

22.9 प्रासांगिक पठनीय ग्रन्थ

1. डॉ. विमल चन्द पाण्डे प्राचीन भारत का इतिहास
2. डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी प्राचीन भारत का इतिहास
3. उ. आर. के. मुखजी हिस्ट्री ऑफ इण्डियन सिविलाइजेशन

4. डॉ. आर्शिवादी लाल श्री वास्तव भारत का इतिहास (100-1700)
5. सरकार एण्ड दत्त आधुनिक भारत का इतिहास-भाग - द्वितीय

इकाई सं. 23 "साहित्य- भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के संदर्भ में"

इकाई की रूपरेखा

23.1 उद्देश्य

23.2 प्रस्तावना

23.3 प्राचीन काल मे साहित्य का उद्भाव एवं विकास

23.4 मध्यकाल में साहित्य

23.4.1 विभिन्न भाषाओं का उत्थान

23.4.2 मध्यकाल की ऐतिहासिक रचनाएं

23.5 आधुनिक युग में साहित्य का विकास ।

23.5.1 क्षेत्रीय भाषाओं में साहित्य

23.6 इकाई सारांश

23.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

23.8 प्रासंगिक पठनीय ग्रन्थ

23.1 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में साहित्य के सम्बन्ध में जानकारी कराई जा रही है । साहित्य मूल रूप से पद्य एवं गद्य में रचा गया था । यह धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक पहलुओं के सम्बन्ध में लिपिबद्ध किया गया था । मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त अनूदित साहित्य भी उपलब्ध है जिसके अन्तर्गत धार्मिक ग्रन्थों अथवा विदेशी यात्रियों के संस्करणों के अनुवाद आते हैं ।

साहित्य के रचयिता आश्रय प्राप्त विद्वान भी होते थे, जबकि स्वान्तः सुखाय पोषक साहित्य के रचयिता भी थे । आधुनिक, काल में स्कूलों, कॉलेजों एवं विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम के अनुरूप भी साहित्यिक रचनाएं की जाती हैं । इस प्रकार भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के संदर्भ में बहुआयामी विविध साहित्य उपलब्ध है ।

23.2 प्रस्तावना

साहित्य समाज का दर्पण होता है । सर्वप्रथम पद्यों में साहित्यिक रचनाऐं की गई थीं । अंग्रेजी भाषा के कवि विलियम वर्ड्सवर्थ के शब्दों में आत्मा की अन्तर्मन अभिव्यक्ति का नाम कविता है । (Poetry is the spontaneous outburst of feeling)। साहित्य पद्य में हो अथवा गद्य में, इसके रचयिता को वातावरण से प्रेरणा प्राप्त होती है । आदर्शों, विचारों, अन्वेषणों व भक्ति ने भी साहित्य को कई आकार दिये हैं । रोमांटिक साहित्यकारों को नारी शक्ति से प्रेरणा प्राप्त होती है । प्रकृति ने भी साहित्यकारों को प्रेरित किया था । वीरता प्रधान साहित्य के रचयिता अपने नायक की उपलब्धियों को महिमामंडित करने के उद्देश्य से रचनाएं करते थे । इस प्रकार जीवन के विभिन्न पहलुओं को

आलोकित करने के उद्देश्य से साहित्य की रचना की गई । इसीलिए साहित्य को समाज का दर्पण कहकर पुकारा जाता है ।

23.3 प्राचीन काल में साहित्य का उद्भव एवं विकास : -

भारत में सभ्यता एवं संस्कृति की स्थापना एवं प्रसारण करने वाली आर्य जाति के ऋषि, महर्षियों ने जीवन के समस्त अंगों पर प्रकाश डालने के उद्देश्य से साहित्यिक ग्रन्थों की रचना की थी जिसे वैदिक साहित्य कहकर पुकारा जाता है ।

आर्यों के रचित साहित्य विश्व के इतिहास का सर्वाधिक प्राचीन एवं श्रेष्ठ साहित्य है । वेद और दार्शनिक ग्रंथ विश्व के प्राचीनतम ग्रंथ माने जाते हैं । इसके अतिरिक्त आर्यों की संस्कृति की झलक उनके साहित्य में उपलब्ध होती है । उनके सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक जीवन की झांकी उनके द्वारा रचित ग्रन्थों से प्राप्त होती है । कालान्तर में भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का मूल आधार आर्य साहित्य बना । जिन सिद्धान्तों, आदर्शों, विचारधाराओं को इनके साहित्यिक ग्रन्थों में निर्धारित और प्रतिपादित किया गया था, उन्हें परवर्ती साहित्यकारों ने और अधिक विस्तृत एवं परिष्कृत किया । समस्त आर्य साहित्य की भाषा संस्कृत है । संस्कृत ने भारत की अन्य भाषाओं को भी प्रभावित किया था । इसीलिए विद्वानों का कथन है कि संस्कृत समस्त भारतीय भाषाओं की जननी है ।

वर्णाश्रम व्यवस्था का जो स्वरूप आर्य ग्रन्थों में निश्चित किया गया था, कालान्तर में उसी पर भारतीय समाज का भवन खड़ा किया गया था । वेद का शाब्दिक अर्थ जानना है, सामान्य रूप से इसका अर्थ ज्ञान माना जाता है । अतीत में वेदों का ज्ञान कंठस्थ रूप में पीढ़ी दर पीढ़ी को कराया जाता था । वेद चार हैं । सबसे प्राचीन ऋग्वेद है । यजुर्वेद में यज्ञों और हवनों के नियम तथा विधान है । ऐसा माना जाता है कि ऋग्वेद की रचना सप्तसिंधु क्षेत्र में तथा यजुर्वेद की रचना कुरुक्षेत्र के मैदान में हुई थी । आर्यों के सामाजिक और धार्मिक जीवन की जानकारी के साथ-साथ वर्ण व्यवस्था और आश्रम प्रणाली के प्रारम्भ होने की जानकारी भी इसी से मिलती है । सामवेद में वे मंत्र हैं जो यज्ञ, अनुष्ठान और हवन के समय गाये जाते हैं । भूत-प्रेत जादू-टोना आदि के सम्बन्धित मंत्र हैं । प्रत्येक वेद के तीन प्रमुख भाग हैं (1) संहिता (2) ब्राह्मण (3) आरण्यक ।

उपनिषद का अर्थ है ब्रह्म ज्ञान के गोपनीय सिद्धांत । इसकी संख्या 108 मानी जाती है । उपनिषदों में ब्रह्म परमात्मा, जीवात्मा, प्रकृति, दृष्टि आदि के रहस्यों का विवेचन किया गया है । यह ज्ञान प्रधान ग्रन्थ है, जिन्हें उच्च कोटि का दार्शनिक चिन्तन का स्त्रोत माना जाता है । कालान्तर में वेदों का ठीक ठीक अर्थ समझने के लिए वेदांग की रचना की गयी, 6 विषय से सम्बन्धित छ: वेदांग हैं । साहित्यिक ग्रंथो को श्रुति अथवा ईश्वर प्रदत्त ज्ञान माना जाता है । इनकी सहायक रचनाओं को स्मृति कहकर पुकारा जाता है । इस प्रकार साहित्य की उत्पत्ति वैदिक परम्पराओं से हुई । स्मृतियों के साथ-साथ सूत्र ग्रंथ भी लिपि बद्ध किए गए । सूत्रों, ग्रंथो की रचना विस्तार को कम करने के लिए और थोड़े से अधिक अर्थ तथा भाव प्रकट करने हेतु वाक्यों के माध्यम से नवीन रचना प्रणाली के रूप में लिखे गए थे । पाणिनी के अनुसार सूत्रों की तीन विशेषताऐं होती :-
(1) सूत्र थोड़े से अक्षरों में लिखे जाते हैं । (2) वे असंग्दिध होते हैं (3) वे सारगर्भित होते हैं ।

आर्यों के द्वारा रचित दो महाकाव्य - रामायण और महाभारत- अधिकांश इतिहासकारों के अनुसार 700 ईस्वीं पूर्व से 200 ईस्वी पूर्व के बीच कभी लिखे गये थे । महाकाव्यों में राम और कौरव पाण्डवों का विस्तृत उल्लेख यह बतलाता है कि महाकाव्य काल तक आर्य समस्त भारत में फैल चुके थे और उनके बड़े- 2 साम्राज्य स्थापित हो चुके थे ।

महाकाव्यों के बाद पुराणों का उल्लेख किया जाता है । पुराणों में विभिन्न राजवंशों का इतिहास लिपिबद्ध है । पुराण भारतीय इतिहास के निर्माण में सर्वाधिक सहायक स्त्रोत प्रमाणित हुए हैं । पुराणों में विविध देवी-देवताओं के पराक्रम की गाथाऐं भी मिलती है । पुराण 18 है, जिनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध विष्णु पुराण, स्कन्ध पुराण और भागवत पुराण है । विदेशी विद्वान पार्टिजर का मत है कि पुराणों की रचना आर्य के शासकों के समय दूसरी शताब्दी में हुई थी । लेकिन भारतीय विद्वान पुराणों की प्राचीनता अथर्ववेद और ब्राह्मण युग तक ले गये हैं ।

स्पष्ट है कि आर्य साहित्य का अपना विशेष महत्व है । इनसे आर्यों की संस्कृति की झलक मिलती है । आर्यों के इतिहास और संस्कृति की जानकारी के लिए उनके द्वारा रचित साहित्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन है ।

3.2.1 आर्यों का साहित्य

वेद	वेदांग	सूत्रग्रन्थ	स्मृति	महाकाव्य	पुराण	दर्शन
चार	1.शिक्षा	1.गृह सूत्र	1.मनुस्मृति	रामायण	अठारह	1. सांख्य
प्रत्येक	2.छन्द	2. श्रोत सूत्र	2.याज्ञवल्कय	एवं		2. न्याय
वेद	3.निरुक्त	3. धर्मसूत्र	स्मृति	महाभारत		3. वैशेषिक
में संहिता	4.व्याकरण		3. नारद			4. योग
ब्राह्मण	5.कल्प		स्मृति			5. पूर्व एवं उत्तर
आरण्यक एवं	6. ज्योतिष		4. बृहस्पति			मीमांसा
उपनिषद			स्मृति			6. वेदान्त

सिन्धु सभ्यता की खुदाई के बाद यह स्पष्ट हो गया कि घाटी के निवासियों को लेखन कला का ज्ञान था । इस सभ्यता के उत्खननों से 2467 लिखित वस्तुऐं प्राप्त हो चुकी हैं । यह दुर्भाग्य है कि 1925 के बाद से इस लिपि को पढ़ने का किया गया निरन्तर प्रयास अब तक अप्रामाणिक हो रहा हैं ।

उत्तर वैदिक काल के अन्त तक भारतीय सभ्यता और संस्कृति के साथ- 2 साहित्य का विस्तार हो चुका था । बढ़ता हुआ वाड्गमय का ज्ञान सुरक्षा की दृष्टि से एक समस्या बन गया था। सभी व्यक्तियों के लिए यह सम्भव नहीं था कि समूचे ज्ञान को विस्तार से याद रखें । अतएव ज्ञान का संक्षिप्तीकरण किया गया । इसे सूत्र शैली कहकर पुकारा जाता है । जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि सूत्रों से तात्पर्य अधिक सामग्री को कम से कम शब्दों में व्यक्त करना था। जिस काल में सूत्रों की रचना हुई थी, उसे भारतीय इतिहास का सूत्र युग कहकर पुकारा जाता है । सूत्र ग्रंथ वेदांग से सम्बन्धित हैं । इसमें कल्प, शिक्षा, व्याकरण, निरूक्त, छंद और ज्योतिष से सम्बन्धित 6 विषय के ग्रन्थ हैं । ग्रंथो में भी सर्वाधिक लोकप्रिय यास्क के द्वारा लिखित निरूक्त और पाणिनी का अष्टा ध्यायी है ।

वासूल ने मंदसौर प्रशस्ति लिखी । यह स्तम्भलेख भी श्रेष्ठ काव्य है । इसकी रचना यशोवर्मन के काल में हुईं । कालिदास का तादात्मय गुप्त युग से ही स्थापित किया गया है । उसकी रचनाएं मेघदूत, ऋतुसंहार, विक्रमोर्वशीय, अभिज्ञान शाकुन्तलम्, रघुवंश, कुमार संभव, आदि उच्च कोटि की रचनाएं है । कालिदास एक कवि और नाटककार दोनों दृष्टियों से सफल और बेजोड़ हैं । उसकी रचनाएं भाव प्रधान हैं । उनमें प्रेम, करूणा, सहिष्णुता जैसे मानवीय गुणों पर अत्यधिक बल दिया गया है। संस्कृत भाषा इनके साहित्य में भरपूर मुखरित हुई है । अभिज्ञान शाकुंतलम नाट्य और साहित्य दोनों दृष्टियों से उल्लेखनीय है । इसमें शकुन्तला एवं दुष्यन्त का प्रेम विवाह है । कालिदास ने सौंदर्य (प्रकृति व नारी दोनों के) पर विशेष जोर दिया है । शकुन्तला के कण्व आश्रम से विदाई के कारण आश्रम के पशु -पक्षी दोनों ही के वियोग की पीड़ा से शकुन्तला संतप्त है । ऐतिहासिक दृष्टि से मालविकाग्निमित्र को प्रशम नाटक समझा जा सकता है क्योंकि इसकी विषय वस्तु शुंग इतिहास पर आधारित है । शूद्रक का मृच्छकटिक भी इसी काल की रचना है । ऐतिहासिक दृष्टि से यह महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें समाज के सभी वर्गों का वर्णन है ।

विशाखदत्त ने मुदाराक्षसम् एवं देवी चन्द्रगुप्तम् दो नाटकों की रचना की । मुद्राराक्षस एक ऐतिहासिक रचना है जिसमें, चाणक्य का कूटनीतिक की कौशल दिखलायी देता है । देवी चन्द्रगुप्तम् के कम अंश प्राप्त हुए हैं । परन्तु उपलब्ध विवरण में चन्द्रगुप्त (गुप्त शासक) द्वारा शकराज एवं रामगुप्त का वध और ध्रुवदेवी के साथ विवाह को विवरण है । अमरकोष की रचना भी इसी काल में हुई । चन्द्र व्याकरण भी बाँदी में कार्फो लोकप्रिय था । वात्स्यायन का कामसूत्र जीवन के विभिन्न पक्षों को दर्शाने वाली गुप्तकालीन रचना है । इस ग्रन्थ में सुखी व सम्पन्न नागरिक की जीवन शैली का परिचय प्राप्त होता है । सुबंध का 'किरातार्जुनीयम' तथा भामंह द्वारा काव्यालंकार भी इस काल की अन्य प्रमुख रचनाएँ हैं । कुछ विद्वान मूर्तहरि को भी इसी काल का मानते हैं । उनके तीन ग्रन्थ नीतिशतक, श्रृंगारशतक, वैराग्यशतक अपनी दृष्टि से अतुलनीय एवं काफी महत्वपूर्ण है । संभवतः गुप्त काल में ही रामायण और महाभारत के अन्तिम संस्करण तैयार किए गये थे । इस काल की अन्य महत्वपूर्ण रचना पंचतन्त्र है । मनुस्मृति के बाद की प्रमुख स्मृतियों (याज्ञवल्क्य, नारद, बृहस्पति और वात्स्यायन) का निर्माण भी इसी काल में हुआ । ये समकालीन दर्शन और साहित्य के विषय बन गये थे । सांख्य दर्शन से सम्बन्धित ईश्वर कृष्ण की 'सांख्यकारिका' भी गुप्त युग की रचना है । बहुत से दार्शनिक ग्रंथो पर महाभाष्य लिखे गये । पातंजलि के महाभाष्य पर भी टीका लिखी गयी । गुप्तकाल में शैव नायनमारो और वैष्णव आलवारों ने तामिल भाषा में बहुत से भक्ति से सम्बन्धित पदों की रचना की । संगम साहित्य के बारे में हम पहले ही विस्तार से उल्लेख कर चुके हैं । तमिल के साथ साथ अपभ्रंश व प्राकृत भाषा का भी विकास हुआ ।

सातवीं शताब्दी के बाद से राजपूत राजाओं ने कवियों और लेखकों को संरक्षण देना प्रारम्भ कर दिया था । परिणाम स्वरूप संस्कृत साहित्य और वैज्ञानिक साहित्य की उन्नति का सुअवसर मिला । काश्मीर में वहां के शासक ललितादित्य मुक्तापीठ ने विद्वानों को संरक्षण देकर संस्कृति साहित्य की उन्नति में योगदान दिया था । सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भट्टी के द्वारा काव्य और रावण वध की रचना की गई । उसे बल्लभी के राजा श्रीघर सेन का संरक्षण प्राप्त था । व्याकरण जैसे शुष्क विषय को साहित्यिक रूप देकर सरल बना दिया गया था । कुमारदास ने भी जानकी हरण नामक काव्य लिखा। उसकी विषय शैली पर गुप्तकालीन महाकवि कालिदास का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है । सातवीं शताब्दी

के उत्तरार्द्ध में मघ कवि ने शिशुपाल वध नामक काव्य की रचना की थी । संस्कृत के विद्वानों का मत है कि माघ की रचना में उपमा, अर्थ, गौरव पद लालित्य तीनों गुण विद्यमान हैं । कविराजा ने 800 ईस्वी के लगभग राघव पाण्वीय नामक ग्रन्थ रचा । इसमें राजा राम और पाण्डवों की कथा एक साथ कही गई है । दसवीं शताब्दी का सर्वाधिक प्रसिद्ध ऐतिहासिक महाकाव्य नवसांहसांक चरित है । इसकी रचना पद्मगुप्त के द्वारा 1000 ईस्वी के लगभग की गई ।

संस्कृत के साथ साथ प्राकृत में भी काव्यों की रचना की गई थी । प्राकृत भाषा के कार्यों में सर्वाधिक प्रसिद्ध गौड़-वही महाकाव्य है । इसकी रचना आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में वाक्पति के दारा की गई थी, जिसे कन्नौज के राजा यशोवर्मा का संरक्षण प्राप्त था ।

आठवीं शताब्दी में ही भवभूति के द्वारा तीन प्रसिद्ध नाटक लिखे गये । मालती माधव नाम का नाटक श्रृंगार रस प्रधान है, जबकि महावीर चरित्र वीर रस प्रधान है और उत्तर रामचरित्र करूणा रस प्रधान है । इस काल में भट्ट नारायण ने अपना प्रसिद्ध नाटक वेणीसंहार लिखा । नवीं शताब्दी में भीम के द्वार प्रतिमा चाणक्य और दशानन्द स्वप्न नामक नाटक लिखे गये । प्रतिमा चाणक्य पर विशाख दत्त के मुद्राराक्षस का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है । इसी काल में मुरारी ने अनर्थ राघव नामक नाटक लिखा, इसमें राम के वन से लौटने की कथा है । इसमें नाटकीय तत्वों की कमी है । लेकिन भाषा की दृष्टि से यह सर्वाधिक श्रेष्ठ हस्थ है । शक्ति भद्र नामक विद्वान ने इसी काल में आश्चर्य चूड़ामणि नामक नाटक लिखा । इसी समय जैन धर्म के विद्वान हात्तमल ने कई नाटकों की रचना की थी । इस युग का सवश्रेष्ठ नाटककार राजशेखर था, जिसने चार नाटक लिखे थे । राजशेखर को प्रतिहार वंश के शासक महेन्द्रपाल और महिपाल का संरक्षण प्राप्त था ।

भारतीय इतिहास के राजपूत युग में गल्प साहित्य की रचना की गई थी । धनपाल के द्वारा तिलक मंजरी की रचना इसी काल में की गई थी ।

धनवंतरि ने आयुर्वेदिक कोष और हलायुध ने अभिधाम रत्नमाला नामक कोष लिखा था । अलंकार से सम्बन्धित ग्रन्थ उसस के द्वारा लिखा गया जिसका नाम अलंकार संग्रह है । रुद्र ने कई ग्रन्थों की रचना की । माधवकर ने आयुर्वेद से सम्बन्धित सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ माधव निदान नवीं शताब्दी में लिखा था । इसी काल में गणित का सुप्रसिद्ध लेखक आर्यभट्ट द्वितीय हुआ जिसने आर्य सिद्धान्त नामक पुस्तक की रचना की ।

इस युग में धार्मिक साहित्य में वराह, गरुड़ आदि पुराणों के नाम उल्लेखनीय है, जिनमें तत्कालीन कर्मकाण्ड का वर्णन है । याज्ञवल्क्य ने बालक्रीड़ा नामक स्मृति लिखी और मेघातिथि ने मुनुस्मृति पर अपनी टीका लिखी । इस काल में लिखित दर्शन शास्त्र का सर्वाधिक प्रसिद्ध लेखक वाचस्पति मिश्र थे । सम्भवतः: वह नवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में थे । उन्होंने सभी दर्शन शास्त्रों पर भाष्य लिखे थे ।

प्राकृत साहित्य के रचनाकारों में वाक्पति और राजशेखर का नाम सर्वाधिक प्रसिद्ध है । प्राकृत भाषा का प्रारम्भिक लेखक हरिभद्र था, जिसने समरैचकया नामक ग्रन्थ की रचना की । उदयोत्वा सूरी ने कुवलयमाला और धनपाल ने पाईललच्छीमाला की रचना की । प्राकृत भाषा में दो कोष भी लिपिबद्ध किए गए थे । राजशेखर की पत्नी अवन्ती सुन्दरी ने प्राकृत कविता में आने वाले शब्दों के कोष की रचना की थी ।

अपभ्रन्श साहित्य की रचना स्वयं भूदेव ने की थी जिसने रामायण और महाभारत के जैन स्वरूपों को कौम चरित्र और हरिवंश पुराण नामक ग्रन्थ के नाम से लिखा था । अपभ्रन्श भाषा में लिपिबद्ध प्रथम कथा साहित्य धम्मपरिया था जिसे हीरशेष ने लिखा था। यह नैतिक कहानियों का एक संग्रह है ।

भारतीय इतिहास के पूर्व मध्यकालीन युग के अर्थात् 11 वीं और 12 वीं शताब्दी में भारत पर शासन करने वाले अधिकांश राजा साहित्य प्रेमी थे । भोज परमार ने विद्वानों को आश्रय प्रदान करके साहित्य, दर्शन, व्याकरण ओर वास्तुकला पर ग्रन्थ लिखवाए । हेमचन्द्र को भी राजा भोज के द्वारा ही प्रेरणा मिली थी । अजमेर के चौहान शासक विग्रहराज चतुर्थ ने सरस्वति कठायकरण विद्यालय की स्थापना करने के साथ-साथ विद्वानों को संरक्षण भी प्रदान किया था' । इस काल के साहित्य में कृत्रिमता अधिक और मौलिकता कम हो गई थी । इस काल का सर्वाधिक प्रसिद्ध महाकाव्य निषिद्ध चरित्र है जिसकी रचना बारहवीं शताब्दी के उत्तर्राध में श्री हर्ष के द्वारा की गई थी। इसमें नल और दमयन्ती की प्रेम कथा का उल्लेख है! सम्भवतः: श्री हर्ष कन्नौज के राजा जयचंद और विजय चन्द का समकालीन था; इसी प्रकार काश्मीर के राजा अनन्त के आश्रय के फलस्वरूप क्षेमेन्द्र ने भारत मंजरी, पद्य कादम्बरी आदि ग्रन्थों की रचना की । बाण की कादम्बरी की कथा का पद्य में वर्णन किया गया । जैन धर्म के लेखकों ने संस्कृत भाषा मे कई प्रसिद्ध काव्यों की रचना की थी । अभयदेव का परमानन्द महाकाव्य, वास्तुपाल का नारायण नन्द महाकाव्य और वादि सिंह का छत्रचूडामणि प्रसिद्ध महाकाव्य है । जैन काव्यों में प्रकृति, ऋतु, युद्ध और श्रृंगार से सम्बन्धित अनक विषयों का सुन्दर भाषा में वर्णन किया गया ।

इस काल के खण्ड काव्य मैं सर्वश्रेष्ठ गीत गोविन्द है जिसकी रचना बारहवीं शताब्दी में जयदेव के दारा की गई थी । जयदेव बंगाल के राजा लक्ष्मण सेन की राजसभा का सदस्य था । यह गीत काव्य मनोहर शैली में श्री कृष्ण की रासलीला का वर्णन करने के लिए लिखा गया था । विल्हण का शांति शतक, गुमानी के उपदेश शतक और हेमेन्द्र के समय मात्रिका नामक खण्ड काव्य प्रसिद्ध हैं, जिसमें वेश्याओं के पाशों का उल्लेख है ।

प्राचीन काल के ऐतिहासिक महाकाव्यों में पद्मगुप्त के द्वारा रचित नवसहसांक चरित तथा कल्हण की राजतरंगिणी सर्वाधिक प्रसिद्ध है । कल्हण ने अभिलेखों ताम्रपत्रों और पृष्ठितयों के आधार पर अपने ग्रन्थ की रचना की थी । संध्याकर नन्दी ने रामचरित्र ऐतिहासिक काव्य अपने आश्रयदाता बंगाल के शासक रामपाल के लिये लिखा था । यह ग्रन्थ ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है । इस ग्रन्थ में अयोध्या के राजा दशरथ और उनके पुत्र सत्ता राम का ऐतिहासिक वर्णन प्रामाणिक स्रोतों के आधार पर किया गया है । चन्द्रबरदाई का पृथ्वीराज रासो, सम्भवतः पन्द्रहवीं शताब्दी की कृति है, जो मूलरूप में अपभ्रन्श में लिखा गला था। लेकिन बाद में इसकी भाषा और शैली में परिवर्तन किया गया । गुजरात के चालुक्य वंश के शासक जयसिंह सिद्धराज की प्रेरणा से हैमचन्द्र ने दयाश्रय नामक काव्य की रचना की थी जिसमें चालुक्य वंश के शासकों का उल्लेख है ।

प्राचीन काल में ही बेताल पंचीसी, विषयति, वृहदमंजरी, और पंचतंत्र की कहानियाँ लिखी गई थी ।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत के राजपूत युग में, जिसका समय सन 700 से 1200 के बीच माना जाता है, उपयोगी साहित्य को रचना की गईं । इनमें : - (1) कोष

ग्रन्थ (2) श्रुति ग्रन्थ (3) अर्थशास्त्र (4) आयुर्वेद और वास्तुशास्त्र के ग्रन्थ (5) धार्मिक साहित्य की रचनाएं आती हैं । कोष ग्रन्थ में धार के राजा भोज के काल का नाममालिका, हेमचन्द्र के द्वारा गुजरात के चार कोष प्राकृत शब्दों का अर्थ बनाने वाला देशी नाम माला उल्लेखनीय है । रीति ग्रन्थों मे भोज परमार ने स्वयं श्रृंगार प्रकाश और सरस्वती कंठाभरण, नामक ग्रन्थ लिखे । राजा भोज के द्वारा अर्थशास्त्र पर युक्ति, कल्पतरु नामक ग्रन्थ लिखा गया जो कौटिल्य के अर्थशास्त्र की भाँति न्याय, शासन, सेना, जहाज एवं भवन निर्माण आदि का विस्तृत रूप से वर्णन करता हैं । इसी काल में सोमेश्वर ने मानसोल्लास नामक ग्रन्थ लिखा । आयुर्वेद के ग्रन्थ में चक्रपाणि दत्त की टीकाऐं और चक्रदत्त नामक मौलिक ग्रन्थ चिकित्सा शास्त्र के लिए महत्वपूर्ण ग्रन्थ है । भोज परमार ने राणा कुम्भा से पहले समरागन सूत्रधार नामक ग्रन्थ लिखा था । इसमें भारतीय वास्तुशास्त्र का पहली बार वर्णन किया गया था ।

पूर्व मध्य काल में प्राकृत से आपस श का उद्भव एवं विकास हुआ । अपभ्रंश की उद्भव सम्भवतः: उत्तर पश्चिमी भारत में हुई थी । इसी के बाद अनेक प्रादेशिक भाषाओं की उत्पत्ति हुई मराठी और जैन-गुजराती भाषाओं की उत्पत्ति इस काल में प्रारम्भ हो गई थी। बंगाली, आसानियां, उड़ीया और बिहार प्रदेश की विभिन्न बलियाँ प्राकृत की देन है ।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि सामन्ती युग में अध्यापन और साहित्य सृजन को विशेष महत्व दिया जाता था । वर्तमान काल की भाषा और साहित्य इस काल की देन है ।

23.4 मध्यकाल में साहित्य

मध्यकाल में प्राकृत भाषा में हरिभद्र ने समरा -ईच्च काव्य की रचना की । उद्योत्ना सूरी ने कुवलयमाला, धर्मदास ने सूरीगगणि, महैशराव सूरी आदि ने रचनाएँ की थी । जैन साधुओं ने धार्मिक महापुरुषों के जीवन चरित्र, प्रेमाख्यान आदि रचनाएँ की थी । धनेश्वर का प्रेमाख्यान 'सुरा- सुन्दरी चरित्र' गुणचन्द का महावीर चरित्र, देवभद्र का पाश्वनाथ चरित्र' हेमचन्द का कुमार पाल चरित्र और हेमचन्द की प्राकृत भाषा की स्टाकरण उल्लेखनीय रचनाएं हैं । इस युग में पाली भाषा में भी धार्मिक महत्व की अनेक रचनाएं की गयी थी। जैन और बौद्ध आचार्यों ने धार्मिक मत मतान्तरों और दार्शनिक सिद्धातों का खंडन मंडन करने के लिए संस्कृत में भी रचनाएँ की थी ।

लोक प्रयोग में संस्कृत के जिन शब्दों को विभिन्न रुपों मे प्रयोग किया जाता था, पातंजलि ने उसे अपभ्रन्श कहकर पुकारा । नाट्य शास्त्रों में अपभ्रंश के अनेक रूपों की चर्चा है । आचार्य रुदट ने अपभ्रन्शों को काव्य भाषा मान लिया । प्रारम्भ से ही अपभ्रन्श में दोहे और छन्द लिखे गये । प्रेम, वैराग्य आदि विषयों पर अपभ्रन्श कृतियाँ लिखी गयी । जैन और बौद्ध आचार्यों ने जन साधारण तक उनके धर्म का संदेश पहुँचाने के लिए अपभ्रन्श का प्रयोग किया । भक्ति काल के संतों ने लोक भाषा का ही प्रयोग किया था। अपभ्रन्श में पहला महाकाव्य स्वयं भूदेव के द्वारा षडमचीरत्र लिखा गया था। इसी काल में हरिवंश ने रामायण और महाभारत का रूपान्तरण किया था । दसवीं शताब्दी में पुष्पदंत ने अपभ्रन्श में अनेक ग्रंथ लिखे । परिणाम यह हुआ कि अपभ्रन्श में कथा, कहानी लिखने की परम्परा प्रारम्भ हो गयी । अनेक जैन आचार्यों ने कथा, कोष, धार्मिक एवं शिक्षा प्रबन्धों की रचनायें अपभ्रन्श में की थी ।

उत्तर भारत में कश्मीरी, पंजाबी, सिन्धी, नेपाली, सौरसैनी और मराठी भाषाओं का विकास अपभ्रन्श से ही हुआ था। मराठी को अनेक धर्म और समाज सुधारकों ने अपनी कृतियों के द्वारा समृद्ध बनाया । गाथा, गीतों और लोकगीतों की काफी रचनाएं इस भाषा में की गई । ऐसा माना जाता है कि गौरखपंथी संतों ने अपनी रचनाओं के द्वारा मराठी को विकसित किया था । संस्कृत के प्रभाव के कारण बंगाली, आसामी और उड़िया भाषाओं का विकास हुआ । उड़िया के साथ-साथ मैथिली साहित्य को भी संस्कृत ने ही समृद्ध किया था । प्राचीन गुजराती भाषा, उत्तरी गुजरात से पश्चिमी राजस्थान तक प्रचलित थी । एक हजार ईसवी के लगभग जब विद्वानों ने गुजराती भाषा में साहित्य की रचनाएं करना प्रारम्भ किया तो वह भी अपभ्रन्श से मुक्त नहीं रह सकी ।

23.4.1 विभिन्न भाषाओं का उत्थान

मध्यकालीन भारत के इतिहास में साहित्य, विशेष रुप से हिन्दी साहित्य ने महत्वपूर्ण योगदान दिया था । सल्लनत काल में चित्रकला का जो विकास हुआ, उसकी जानकारी चांदायन, मृगावती जैसे साहित्यिक ग्रन्थों के द्वारा ही प्राप्त हो सकी है । अलाउद्दीन खिलजी के राजस्थान में अभियानों का उल्लेख हम्मीर रासो के अतिरिक्त मलिक मोहम्मद जायसी के द्वारा रचित पदमावत से भी प्राप्त हुआ है । गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद उत्तर भारत में बहुराज्य वादी व्यवस्था का विकास हुआ था । इसलिए स्वाभाविक रूप से (इसके कारण) क्षेत्रीयवाद को बढ़ावा मिला । उत्तर भारत की प्रादेशिक भाषाओं का उदय और विकास सातवीं और आठवीं शताब्दी में प्रारम्भ हो चुका था । मध्यकालीन भारत के धार्मिक एवं सांस्कृतिक इतिहास की जानकारी समकालीन हिन्दी भाषा के साहित्यिक ग्रन्थों से प्राप्त होती है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में प्रारम्भिक काल को वीर गाथा काल के नाम से पुकारा जाता है । इस काल की रचनाओं में सामन्तवादी प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं । हिन्दी साहित्य का द्वितीय युग भक्ति काल कहलाता है । सल्लनत की इक्तादारी व्यवस्था ने प्राचीन सामन्तवाद को मृत प्राय: कर दिया था और जब भारतीय धर्म नवोदय की और बढ़ रहा था तब साम्प्रदायिक समन्वय की लहर आई । भक्ति आन्दोलन के संतों ने अपनी वाणी को मुखरित करके, हिन्दी साहित्य को विकसित किया । भक्ति काल के युग में प्रेम-मार्गी धारा प्रवाहित होने लगी, जमींदारी और जागीरदारी व्यवस्था के रूप में सामन्तवादी प्रणाली ने नया रूप धारण कर लिया था । उस समय हिन्दी साहित्य में भी उसके अनुरूप परिवर्तन आये । रीति नीति और धर्म के परिवर्तन के कारण इसे रीति काल कहकर पुकारा गया ।

ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी, हिन्द, हिन्दवी और हिन्दुस्तानी उत्तर पश्चिमी भारत में सिन्धु नदी से सम्बन्धित शब्द है । भारत में आने वाले विदेशी आक्रमणकारियों ने उत्तर पश्चिम के सिंहद्वार को पार करते ही सिंधु प्रदेश में प्रवेश किया था । ईरानी लोगों ने सिन्धु को हिन्दू कहा, हिन्दू से हिन्द बन गया और फिर हिन्दू में फारसी भाषा के इक-प्रत्यय लगाने से हिदीक बन गया, जिसका अर्थ होता है हिन्द का । हिन्द की भाषा को हिन्दी का नाम दिया गया । सबसे पहले हिन्दी शब्द का प्रयोग सर्फूदीन-यजदी ने उनकी कृति जफरनामा में किया था, जिसे उन्होंने 1425 के लगभग लिखा था ।

हिन्दी और उर्दू दोनों सगोत्रीय भाषाएँ हैं । उर्दू मूल रूप से तुर्की का शब्द है जिसका अर्थ होता है खेमा (शिविर) । सल्लनत काल में तुर्की शासकों के मध्य एशिया के साथ सम्बन्ध टूट चुके थे । उस समय बोलचाल के लिए भाषा की समस्या विकट हो गयी । सल्लनत काल में ही सेना में जो विभिन्न जाति और धर्मों के लोग थे उनकी बोलचाल के लिए जिस मिश्रित भाषा का प्रयोग किया गया उसे उर्दू

कहकर पुकारा गया था । स्पष्ट है कि उर्दू का उदय और प्रारम्भिक विकास खेमों में हुआ था । कालान्तर में उर्दू को हिन्दवी कहकर पुकारा गया । सल्लनत काल के सूफी संतों, अमीरों और प्रशासनिक अधिकारियों को भाषा की समस्या का विकट रूप से सामना करना पड़ा था । क्योंकि जब वे लोग दक्षिण भारत में पहुँचे तो वहां की प्रादेशिक भाषाओं से अनभिज्ञ थे । उस समय उर्दू का ही दक्षिण भारत में विकास हुआ । और उसे दक्कनी कहकर पुकारा गया । अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक उर्दू को हिन्दवी, रेखता, दक्कनी अथवा हिन्दी कहकर पुकारा जाता था । आम लोग उर्दू भाषा को हिन्दुस्तानी या दक्कनी कहकर पुकारते थे । उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक उर्दू के विभिन्न नामों का प्रचलन बंद हो चुका था । और इसे वर्तमान रूप में उर्दू कहकर पुकारा गया । उत्तर मध्य काल में राजनैतिक, सामाजिक, और सांस्कृतिक जीवन के समन्वय की प्रक्रिया में उर्दू का महत्वपूर्ण योगदान रहा है ।

जिस तरह हिन्दी के क्षेत्रीयवाद के कारण विभिन्न रूप उत्पन्न हो गये थे, उसी प्रकार उर्दू के भी कई रूप बदले । बृज में बोली जाने वाली हिन्दी बृजभाषा, अवध में हिन्दी को अवधी, उत्तर पूर्वी बिहार में भोजपुरी, मिथिला में मैथिली, राजस्थान में राजस्थानी और मालवा में मालवी के नाम से पुकारा गया, इन सब क्षेत्रीय भाषाओं के विविध रूप में हिन्दी का एक सामान्य रूप उभरा जिसे खड़ी बोली कहकर पुकारा गया । खड़ी बोली किसी क्षेत्र विशेष की भाषा नहीं है, यह समूचे हिन्दी प्रदेश की भाषा है । मध्य काल के प्रमुख लेखक अमीर खुसरो, कबीर और गोरखनाथ ने खड़ी बोली का मिश्रित भाषा के रूप में ही प्रयोग किया था ।

हिन्दी भाषा का उदय सौरसैनी और अर्द्धमाग्धी भाषाओं से माना जाता है । क्षेत्रीय रूपों में हिन्दी को बोलियाँ, ब्रज, अवधि के अलावा मैथिली, खड़ी बोली, डिन्गल और राजस्थानी भी कहकर पुकारा जाता है । डॉ. रामकुमार वर्मा ने हिन्दी के विकास के परिवर्ती काल को चारण काल कहकर पुकारा है । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और डा. नगेन्द्र ने वीर गाथा काल को आदि काल कहकर पुकारा और उसका समय आठवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी के बीच निर्धारित किया । इस काल के अधिकांश लेखक चारण कवि थे । उन्होंने वीर गाथात्मक और श्रृंगारिक साहित्य की रचना की । राजपूत राजा और सामन्य चारण जाति के जिन लेखकों को आश्रित प्रदान करते थे उन्हें चारण भाट कहकर पुकारा जाता था । इन लोगों ने अपने आश्रय दाताओं की उपलब्धियों का वर्णन अपनी कृतियों में किया है । महिमा-मंडित करने की प्रवृति के कारण कई बार ऐतिहासिक तथ्यों की हत्या कर दी गई । कवियों ने तो कथा वस्तु को चरित्र नायक के चारों ओर इतना अधिक संकुचित कर दिया था कि कथा वस्तु के विकास की ओर ध्यान ही नहीं दिया । इन्हीं लोगों के कारण रासो साहित्य का उद्भव और विकास हुआ । समकालीन रासो साहित्य का जन जीवन से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था । इनके रचयिताओं का उद्देश्य अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करना था । पूर्व मध्य कालिन राजनैतिक प्रवृत्तियों के विवेचन का आधार रासो साहित्य बन गया । इसमें चरित्र नायक प्रधान 12 ग्रन्थ रचे गये । इन्हें इतिहासकार इतिवृत कहकर पुकारते हैं । रासो साहित्य के प्रमुख गन्थों में खुमान सरसे, बीसलदेव रासो, परमाल रासो, पृथ्वीराज रासो आदि हैं ।

रासो साहित्य के अतिरिक्त आदि कालीन हिन्दी साहित्य की साहित्यिक कृतियों को पांच वर्गो में किया गया है. - (1) सिद्ध साहित्य (2) जैन साहित्य (3) नाथ साहित्य (4) लोकिक साहित्य (5) गद्य साहित्य । इस प्रकार आदि कालीन हिन्दी साहित्य के द्वारा समकालीन, राजनैतिक, सामाजिक

और सांस्कृतिक गतिविधियों की पर्याप्त जानकारी प्राप्त हुई । रासो साहित्य में सामन्तवाद, युद्ध, हिंसा, शौर्य, वीरता का उल्लेख किया गया । यह क्षेत्रीय प्रवृत्तियों के प्रतीक है । हिन्दी साहित्य से ही पता चलता है कि मध्य काल में रूढ़िवाद और अन्य विश्वास का बोलवाला हा गया था । केवल नारी के शारीरिक सौन्दर्य को विभिन्न श्रृंगारिक रूप में व्यक्त करने की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो गई थी । बाबर ने इसका वर्णन व्यंगत्मक भाषा में अपनी आत्मकथा में इन शब्दों में किया है । "राजपूत युद्ध में मारे जाने को ही अपनी सबसे बड़ी वीरता समझते हैं ।" इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सरसे साहित्य पूर्व मध्य कालीन उत्तर भारत के सामन्तवाद का अत्यन्त वस्तुपरक दर्पण है ।

धर्म और संस्कृति के क्षेत्र में समकालीन हिन्दी साहित्य में अन्तर विरोधी प्रवृत्तियों की जानकारी मिलती है । एक और भोगवादी सिद्ध वामपंथी थे तो दूसरी और नाथशैली के लेखक थे, जिन्होंने योग के हठ मार्ग का सहारा लिया था और वाम मार्ग का खंडन किया था । जैनियों ने अपने रास साहित्य के द्वारा समकालीन समाज में व्यापत हिंसक प्रवृत्तियों से मुक्ति प्राप्त करने के लिए अहिंसा और शांति का प्रचार किया । उनके प्रचार का परिणाम यह हुआ कि हिंसा और सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध शांति, प्रेम, अहिंसा और बंधुतत्व की दिशा में जो प्रगति हुई उसने भक्ति कालीन कवियों के लिए पृष्ठभूमि तैयार कर दी ।

भक्ति कालीन कवियों की वाणी ने 'भारत में समन्वयवादी संस्कृति और समाज की स्थापना के लिए पहल की थी, जिसका पूर्ण विकास अकबर के शासन काल में हुआ । समन्वित संस्कृति को भारतीय जन जीवन का अभिन्न अंग बनाने वाले मध्यकालीन इतिहास लेखकों में जायसी, मुल्ला दाऊद, अमीर खुसरो और कबीर आदि के नाम उल्लेखनीय है ।

अकबर की शिक्षा पद्धति के कारण बहुत से हिन्दू फारसी पढ़ने लगे । फलतः कई हिन्दू फारसी के कवि, इतिहासज्ञ और कोशकार हो गये । अबुल फजल ने कुछ हिन्दू विद्वानों के नाम गिनाये हैं - जैसे नारायण, माधो भट्ट, विद्या निवास, गौरी नाथ, गोपीनाथ, किशनपण्डित भट्टाचारजी, भागीरथ, काशीनाथ, महादेव, भीमनाथ तथा नारायण शिवजी । इस युग में हिन्दी की चरम उन्नति हुई । रहीम का हिन्दी भाषा व साहित्य को लोकप्रिय बनाने में महत्वपूर्ण योगदान है । उस समय अलंकारों की अपेक्षा नायिका भेद की ओर कवियों का झुकाव हुआ । फलस्वरूप श्रृंगार रस की अनेक मुक्तक रचनाएं हिन्दों में हुई । नायिका श्रृंगार रस का आलंबन है । इस आलंबन के अंगों का वर्णन एक स्वतन्त्र विषय हो गया । इसी प्रकार उद्दीपन के रूप षडऋतु वर्णन पर भी कई अलग पुस्तकें लिखी गयी। विप्रलंभ सम्बन्धी, (बारहमासे) भी कुछ कवियों ने लिखे । "नायिकाभेद" की प्रथम पुस्तक लिखी । रसलीन कृत अंग दर्पण से ज्ञात होता है कि केशव ने नायिकाओं के 360 भेद देव ने 384, परन्तु सैयद गुलाब नबी रसलीन ने उनके 1352 भेद किये । वस्तुतः भक्तों एवं स्लीयों ने मिलकर प्रेम की तीव्रता को उत्कर्ष देने के लिये नायिका भेद की रचना कर डाली । यहां तक कि मीराबाई जो माधुर्य भाव से कृष्ण की उपासना कर रही थी, सूफी- संस्कारों से अप्रभावित न रह सकी । रसखान की 'प्रेम वाटिका ' 1614 ई. की है और वह अकबर-जहांगीर काल की सामाजिक व सांस्कृतिक स्थिति का अच्छा परिचय देती है ।

मुगलकाल के लिये यह चमत्कार ही है कि उसमें गोस्वामी तुलसीदासजी जैसे कवि का प्रादुर्भाव हुआ । उनका रामचरितमानस रचना कौशल, प्रबन्ध पटुता व सहृदयता आदि की दृष्टि से अद्वितीय

है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कहना है कि "यदि कोई पूछे कि जनता के हृदय पर सबसे अधिक विस्तृत अधिकार रखने वाला हिन्दी का सबसे बड़ा कवि कौन है । तो एकमात्र सही उत्तर ठीक हो सकता है कि भारत हृदय, भारती कण्ठ, भक्त चूड़ामणि- गोस्वामी तुलसीदास । दरबारी कवियों में टोडरमल, बीरबल, गंग, मनोहर आदि कवि थे । केशवदास ने रामचन्द्रिका सुप्रसिद्ध महाकाव्य लिखा । इस काल के अन्य प्रसिद्ध कवि सूरदास जी थे । जिनका बाल क्रीड़ाओं पर रचित काव्य प्रत्येक हृदय को आज भी छूता है ।

17 वीं शताब्दी में भी यह धारा अनवरत चलती रही । बिहारी इस युग के महाकवि थे । बिहारी की समाहार शक्ति, रस व्यंजना, वस्तु व्यंजना, व्यंगार्थ -प्रियता, वाग्वैदग्ध्य अद्‌वितीय है । उनकी मार्मिक और अनूठी उक्तियाँ हिन्दी साहित्य का शाश्वत श्रृंगार है । रीतिकाल के अन्य कवि मतिराम थे । श्रृंगारी वातावरण में वीररस की व्यंजना करने वाले महाकवि भूषण इसी युग में हुए । उनकी कविताएँ अत्यधिक ओजस्विनी और वीर दर्प पूर्ण है । भूषण बड़े ही प्रतिभा सम्पन्न कवि थे । उनका अर्थ सौस्ठव और नवोन्मेष अन्यत्र दुर्लभ है । भिखारीदास एवं पद्‌याकर भट्ट रीति काल के कवियों में सर्वप्रिय कवि थे । इस काल में हिन्दी गद्‌य की परम्परा भी चल पड़ी । नाभादास का अस्टयाम? बैकुण्ठ मणिशुक्ल का अगहन महातम्य और बैसाख महातम्य ब्रजभाषा गद्‌य के अच्छे उदाहरण माने जाते है । आगे चलकर सूरति मिश्र का बैताल पच्चीसी और हीरालाल का भाषा वचनिका जो आईने अकबरी का अनुवाद है, निकला ?

इस प्रकार इतिहास लेखन की प्रवृत्ति मध्यकाल में (750 ईस्वी के बाद से) साहित्य के विकास का एक स्तम्भ था ।

भारतीय इतिहास के मध्यकाल में सम-सामयिक ओर ऐतिहासिक साहित्य अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में लिखा गया । आठवीं शताब्दी के बाद जो अरब और मुस्लिम यात्री धर्म प्रचार अथवा व्यापारिक हितों की पूर्ति के लिए भारत आए थे, उनमें से अधिकांश ने अपनी यात्रा के मूल्यवान संस्करण छोड़े हैं । विवरणों में भौगोलिक तत्वों को अधिक महत्व दिया गया । लेकिन, उन्होंने प्रसंगवश जो अन्य विवरण लिख दिए हैं वे ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्यवान प्रमाणित हुए हैं ।तर्को के आगमन से पूर्व भारत में ऐतिहासिक दृष्टिकोण से राजतरंगिणी को 1148 ईस्वी के लगभग लिखा गया था । इसके लेखक कल्हण ने काश्मीर का इतिहास लिखा था, जिसमें कृषि की रचना क्यों, कब ओर कैसे की गई उसका उल्लेख विस्तार से मिलता है । काश्मीर में इतिहास लेखन की परम्परा वहां के निवासियों की रुचि के कारण और क्षेत्रीयता की भावना उत्पन्न होने के बाद भी उनकी इतिहास लेखन की प्रक्रिया में कमी नहीं आई । सम्भवतः यह इसलिए हुआ कि काश्मीर में बौद्ध धर्म अधिक समय तक लोकप्रिय रहा, और बौद्धधर्म में ऐतिहासिक चेतना अधिक बलवती थी । कल्हण की यह कृति भारतवासियों के इतिहास लेखन के प्रति अरुचि के प्रचार का काट करती है ।

23.4.2 मध्यकाल की ऐतिहासिक रचनाएँ

जब भारत का तुर्की साम्राज्य के साथ सम्बन्ध स्थापित हो गया तो यहीं भी ऐतिहासिक साहित्य लेखन की परम्परा नये ढंग से प्रारम्भ हो गई । सबसे पहले फतहनामा लिखा गया । तत्पश्चात् बालाजूरी ने फतह- अल-बुल्लाद लिखी, जिसमे अरबों के द्‌वारा सिन्ध की विजय का उल्लेख मिलता है । इसके बाद मध्यकालीन भारत में इतिहास लेखन की परम्परा प्रारम्भ हो गई । भारत में तर्को के आगमन

से पूर्व मुसलिम बुद्धिजीवियों ने इतिहास को एक स्वतंत्र विषय-ज्ञान के रूप में प्रतिक्षित कर दिया था। प्रारम्भिक अरब वासी बंशावलियों में दिलचस्पी रखते थे । पैगम्बर की परम्पराओं को हदीस में संकलित करके इतिहास लेखन की प्रथा प्रारम्भ की गई थी । यह भी सम्भव है कि प्रारम्भिक खलीफाओं की भौतिक सम्पन्नताओं के कारण इतिहास लेखन को गति मिली हो । बगदाद के कागज के निर्माण का कार्य आठवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में प्रारम्भ हो चुका था । स्वाभाविक रूप से भारत में शासन स्थापित करने के पश्चात् तर्को ने भारत के इतिहास में अपनी रुचि को जातीय स्वभाव एवं परम्परा के अनुसार बनाये रखा । तर्को पर फारस और वहां की फारसी भाषा का अधिक प्रभाव था । अतएव भारत में भी जो प्रारम्भिक तवारीखे लिखी गई उनकी रचना फारसी भाषा में ही की गई । मध्य युग की रचनाऐं बहुत महत्वपूर्ण है । अलबेरूनी की पुस्तक किताबुल- हिन्द में भारतीय विज्ञान, धर्म और समाज का वर्णन किया गया है । मिनहास सिराज ने तबकाते नासिरी में, जियाऊदीन बनी ने तारीख ए फिरोज शाही में तथा शम्से सिराज अफिफ ने अपनी कृतियों में उस परम्परा को बनाये रखने का प्रयास किया जो अलबेरूनी की तहकीक-ए-हिन्द में मिलती है । बरनी का इतिहास और इतिहासकार के लिए मार्गदर्शन उसकी कृति तारीख-ए-फिरोज शाही में लिपिबद्ध किया था । इस दृष्टि से अमीर खुसरो को इतिहासकार मानना कठिन है । लेकिन उसने ऐतिहासिक प्रसंगों पर आधारित मसनवियां लिखी थी जो समकालीन सामाजिक इतिहास पर गहराई से प्रकाश डालती है । बाबर और जहाँगीर की आत्मकथाएँ हुँमायू की बहन गुलबदन बेगम का हुँमायू नामा, अकबर के आदेश से लिखे गये अकबर नामा और आईने अकबरी ऐसी रचनाएँ हैं कि जिनमें समसामयिक तथा समकालीन घटनाओं का वर्णन उपलब्ध है । मुगल काल में इतिहास लेखन की परम्परा औरंगजेब के काल तक बनी रही । औरंगजेब ने अपने काल के दसवें वर्ष में इतिहास लेखन पर प्रतिबन्ध लगा दिया था । फिर भी उसने स्वयं रुक्के-यात-ए- आलमगिरी लिखी । औरंगजेब के शासन काल में अखबार-ए-दरबार-ए मौला जारी करने की परम्परा प्रारम्भ हो गई थी। औरंगजेब के शासन काल का इतिहास उसकी मृत्यु के बाद साकी मुश्तेदखां ने मआसिरे आलम गिरी में लिखा । लुकछिप कर इतिहास की रचना मुन्तुख्याव उल'लुबाव के नाम से खाफीखां के द्वारा की गई । इस प्रकार साहित्य के प्रति जो रुचि उत्पन्न हुई वह अमीरों, सामन्तों ओर धनिक लोगों तक पहुंच गई । अकबर के आदेश से राजपूत राजाओं ने अपनी वंशावलियाँ तैयार करवाई । अधिकांश राजाओं ने अपने राज्य का इतिहास ख्यातों और वार्ताओं के रूप में तैयार करवाया। अमीर लोगों ने आत्मकथाओं के स्थान पर अपनी जीवनियां और उपलब्धियाँ लिखवाई । इसीलिए उठारहवी शताब्दी में मुगल अमीरों और सामन्तों की जीवनियों से सम्बन्धित दो मथ लिखे गये थे । गुलाम हसन ने परवर्ती मुगल शासकों का इतिहास सियार-उल मुताखरीन में लिखा । यह परम्परा बंगाल गुजरात ओर महाराष्ट्र में बहुत अधिक लोकप्रिय हो गयी थी । सोलहवीं शताब्दी में हिन्दी भाषा के सुप्रसिद्ध कवि बिहारी ने आमेर नरेश मिर्जा राजा जयसिंह के आश्रय में रहते हुए अपनी सतसई लिखी । भूषण ने छत्रपति शिवाजी की उपलब्धियों को लिपिबद्ध किया । इस तरह के उदाहरण दोहराये जा सकते हैं, जिनके आधार पर यह कहना अनुचित नहीं होगा कि मध्य काल को भारतीय इतिहास के प्राचीन युग के पृथक करने वाली महत्वपूर्ण तथ्य इतिहास लेखन की प्रवृत्ति और परम्परा थी । अंग्रेजों ने 1757, के बाद, जब भारत में राजनैतिक प्रभुत्व बढ़ाना प्रारम्भ कर दिया था तो उन्होंने विरासत में प्राप्त परम्परा को जारी रखा ।

23.5 आधुनिक युग में साहित्य का विकास: -

अंग्रेजी शासन की स्थापना के पश्चात् एक और भारत का बाह्य जगत के साथ सम्पर्क स्थापित हुआ । जिससे गहन सृजनात्मक विचारों को प्रेरणा प्राप्त हुई तो दूसरी और साहित्यक रचनाओं के लिए नये आदर्श भी मिले, जिनसे प्रेरणा लेकर विचार और ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में प्रतिभावान भारतीय विद्वानों ने सभी संभव क्षेत्रों में साहित्य का विकास किया । अंग्रेजी शासन काल में पुनर्जागरण आन्दोलन के फलस्वरूप भारतवासियों की अपने सामाजिक दोषों के प्रति चेतना जागृत हुई और जीवन के सभी पहलुओं में पूर्ण सुधार की प्रेरणा प्राप्त हुई । इससे पूर्व चौदह से सोलहवीं शताब्दी के बीच भक्ति आन्दोलन ने देशी साहित्य के विकास को प्रेरित किया था । उसी प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के धार्मिक और सामाजिक सुधार आन्दोलनों ने उन्नीसवीं शताब्दी में साहित्यिक प्रगति को विकसित होने का अवसर दिया । परिणाम यह हुआ कि सभी क्षेत्रों में साहित्य का विकास हुआ । आधुनिक काल में लिपिबद्ध उपन्यास, निबंध, नाटक, काव्य, गीत काव्य और गाथा सभी का विकास हुआ । यह निर्विवाद सत्य है कि भारतीय साहित्य के विकास पर पश्चिमी विचारधारा और शिक्षा का उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा था। लेकिन यह भी सत्य है कि अठारहवीं शताब्दी के अशान्ति और असुरक्षा के वातावरण में साहित्य लेखन की प्रवृत्तियाँ शिथिल हो गई थीं । वे उन्नीसवीं शताब्दी में पुन: गतिशील हुई । प्रेस के भारत में आगमन के कारण और लेखकों ने पाश्चात्य साहित्य से जो नये विचार और आदर्श ग्रहण किये थे, उनका पुस्तकों के प्रकाशन के द्वारा तीव्र गति से प्रसारित किया गया । श्री आर. सी. दत्त ने लिखा है कि "हिन्दू मस्तिष्क का सम्पर्क योरोपीय इतिहास और साहित्य के सर्वोत्कृष्ट और उदीप्त विषयों से हुआ और इससे उसने लाभ उठाया" ।

अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक ईसाई धर्म प्रचारकों ने भारत में शिक्षा के प्रचार प्रसार पर अधिक बल देना प्रारम्भ कर दिया था । श्रीरामपुर में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना हो जाने के बाद पंडित और मुंशियों ने बंगाल में गद्य साहित्य की रचना का सराहनीय प्रयास किया । उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में राजा राममोहनराय ने अपने सुधारवादी कार्यक्रम को प्रसारित करने के एक नवीन, परन्तु शक्तिशाली गद्य शैली अपनायी थी । इसीलिए उन्हें आधुनिक बंगला गद्य साहित्य का जनक कहकर पुकारा गया । राजा राममोहनराय ने ही बंगला भाषा में कवितायें लिखीं । उनसे प्रेरणा लेकर 1830 से 40 के बीच ईश्वरचन्द विधासागर ने सुगम, हास्यपूर्ण ओर अजय पदावलियाँ लिखीं । जिनमें भाषा की अपार अप्रत्याशित शक्ति को समृद्ध होने का अवसर प्रदान किया । 1840 के बाद तो कई गद्य और निबंध लेखक- मैदान में आ गए थे । वे सामाजिक और शिक्षा सम्बन्धी सुधार के प्रश्नों पर सबल और सुन्दर शैली में लिखा करते थे । इन लेखक में अक्षयकुमार दत्त देवेन्द्र नाथ ठाकुर, राजनारायण बसु, पंडित शिवनाथ शास्त्री, केशवचन्द सैन के नाम उल्लेखनीय है।

धार्मिक साहित्य के साथ साथ उच्च श्रेणी का दार्शनिक साहित्य भी लिखा गया । भूदेव चन्द गुरूजी (1825-94) प्यारे लाल मिश्र, प्रताप चन्द घोष, काली प्रदुमनसिंह ऐसे लेखक थे, जिन्होंने ईश्वर चंद से प्रेरणा लेकर उन का अनुसरण किया था। बंगाली में ही नाटक लेखन की परम्परा 1664 मे प्रारम्भ हुई । रामनारायण तर्करत्न ने कुलीन सर्वस नामक प्रथम मौलिक नाटक लिखा था । इसमें उन्होनें कुलीन प्रथा और बहु पत्नी प्रथा का उपहास किया है । माइकेल मधुसूदन दत्त ने अपनी उदार शिक्षा के कारण भारत की साहित्यिक परम्परा को पुनर्जीवित करने के उदेश्य से संस्कृत भाषा में कई नाटक लिखे ।

इनमें 1858 मे प्रकाशित शर्मिष्ठा नाटक और 1860 मे प्रकाशित तिलोत्तमा नाटक सर्वाधिक पसिद्ध है । माइकेल दत्त ने. ही 1861 में अपना प्रसिद्ध काव्य मेघनाथ वध लिखा था । जिसमें मुक्त छंद का प्रथम बार बंगाली में प्रयोग किया गया था । इस प्रकार जो परम्परा प्रारम्भ हुई, उसे हेमचन्द बनर्जी और नवीनचन्द सैन ने 1880 के बाद भी जारी रखा था । बंगाली भाषा में महाकाव्यों की रचना शैली के जन्मदाता दीनबंधु मिश्र थे । उन्होंने 1860 में नीलदर्पण नामक ग्रन्थ प्रकाशित करवाया । यह नदियाँ के साहबों पर व्यंगात्मक रचना थी । कालान्तर में गिरीशचन्द घोष, अमृतलाल बोस और द्विजेन्द्र राय ने अपनी रचनाओं के द्वारा बंगाल नाटक साहित्य को 'समृद्ध बनाने के साथ साथ उसे शक्तिशाली भी बनाया । इस प्रकार बंगाली साहित्य ने भारत के सामाजिक जीवन पर ही नही अपितु समूचे भारत वर्ष के राष्ट्रीय जीवन पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव डाला था । उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक साहित्य का जो विकास हुआ वह बीसवीं शताब्दी में भी बना रहा और उसमें चतुर्मुखी दिशा में प्रगति हुई ।

उन्नीसवीं शताब्दी में 'जो साहित्यिक ग्रंथ लिखे गये थे उनमें ऐतिहासिक दृष्टि से लिये गये ग्रंथो की यह विशेषता थी की वे पुरातन और नवीनता के बीच सुन्दर सम्मिश्रण थे । बंकिम चन्द चटर्जी बंगाल के प्रथम बड़े उपन्यासकार थे । माइकेल मधुसूदन दत्त की रचनाओं से प्रेरणा लेकर उसे ओर अधिक विविध एवं शक्तिशाली बनाने का कार्य इन्होंने किया था । गद्य मे जो बंकिमचन्द का स्थान है, पद्य में वही मधुसूदन का है । वे नयी शैली के प्रवर्तक और नये विचारो के जनक थे । सृजनात्मक कल्पना और भड़कीले वर्णन में उस शताब्दी के दूसरे लेखकों की तुलना इन दोनों से नही की जा सकती। बंकिमचन्द्र का पहला ऐतिहासिक उपन्यास दुर्गेशनंदिनी था । जो 1864 में प्रकाशित हुआ था । उसके बाद उनके सामाजिक और राजनैतिक विषयों पर अन्य उपन्यास प्रकाशित हुए, आनन्दमठ, देवी चौधुरानी, विश्ववृक्ष, मृणालिनी, कपालकुण्डला अधिक प्रसिद्ध है । बाद मे उन्होंने धार्मिक विषयों पर उपन्यासों की रचना प्रारम्भ कर दी थी । 1886 में उनका चरित्र नामक उपन्यास प्रकाशित हुआ था। एक विदेशी विद्वान आर डब्ल्यू फ्रेजर ने लिखा है कि " पश्चिम के पाठकों को उनके उपन्यास से भारतीय जीवन और विचारों की आंतरिक भावना पर प्रकाश मिलता है " । बंकिम के योग्य उत्तराधिकारी रमेशचन्द्र दत्त ने भी लेखन कार्य जारी रखा । उनके कई ऐतिहासिक उपन्यास प्रकाशित हुए, जिनमें बंग विजेता, राजपूत जीवन संध्या, माधवी कंकण, महाराष्ट्र जीवन प्रभात, संसार और समाज अधिक प्रसिद्ध है । इस काल में कतिपय नारियों ने भी साहित्यिक कृतियों की रचनाएँ की थीं । कृष्ण कुमारी घोषाल ने द्वीप निर्माण, तारकचन्द गांगुली ने स्वर्णलता, पंडित शिवनाथ शास्त्री ने मंझली बहू नामक उल्लेखनीय उपन्यास प्रकाशित किये । बाद के वर्षों में रविन्द्र नाथ ठाकुर और शरतचन्द्र घोष ने बहु आयामी उपन्यास लिखे । बंगाल मे कथा साहित्य के लेखकों का भी एक स्कूल चल पड़ा था । इसमें ढाका के कालीप्रसन्न सिंह घोष, सजकुमार मुखर्जी और चन्दनाथ बोस प्रसिद्ध निबन्ध लेखक हुए हैं जिनकी कलम ने बंगला साहित्य को विविधता प्रदान की । आत्म कथाएँ लिखने की परम्परा नगेन्द्र नाथ चटर्जी के द्वारा प्रारम्भ की गई थी, जिन्होंने राजा राममोहन राय की जीवनी लिखी । मधुसूदन दत्त के अलावा रामबाग दत्त के परिवार के कई सदस्य थे, जिनमें चारूदत्त का नाम उल्लेखनीय हैं। श्रीमती सरोजनी नायडू और उनके भाई हरेन्द्रनाथ चटर्जी का भी नाम उल्लेखनीय है । जिन्होंने अंग्रेजी भाषा में गद्य और पद्य की रचनाएँ की थी । बंगला साहित्य के निर्माण में रविन्द्र नाथ ठाकुर का नाम सर्वाधिक प्रसिद्ध है । उनके नाटक, उपन्यास, कहानी, नीति काव्य, सोनेट और गीतों के द्वारा

केवल बंगाली साहित्य का ही नहीं अपितु भारत वर्ष का नाम अन्तर्राष्ट्रीय जगत में प्रसिद्ध हुआ।1913 ई. में गीतांजली को नोबल प्राइज दिया गया। उनके लेखों और शांति निकेतन के विद्यार्थियों ने अपनी रचनाओं के द्वारा भारतीय सभ्यता की आत्मा का दिग्दर्शन विश्व को कराया था।

बंगाली साहित्य के समान हिन्दी साहित्य का भी विकास इस काल में हुआ। श्री लल्लू लाल ने 1803 में प्रेमसागर, संदल मिश्र ने अपनी कृति नासिकितो -पाष्यान के द्वारा हिन्दी भाषा में परिवर्तन लाकर इसे साहित्यिक भाषा का स्वरूप प्रदान किया।

श्रीरामपुर के ईसाई धर्म प्रचारकों ने भारत की अन्य भाषाओं में ईसाई धर्म से सम्बन्धित पुस्तकों का अनुवाद करके हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास को प्रोत्साहन दिया था। कैरे के द्वारा न्यूटेस्टामेन्ट का हिन्दी में अनुवाद 1809 में प्रकाशित करवाया गया था। हिन्दी की पुस्तकों का प्रकाशन फोर्ट विलियम कॉलेज के प्रेस से प्रारम्भ हुआ था। इसके बाद 1837 में जब दिल्ली में एक लिथोग्राफिक प्रेस खुल गया तो सभी भाषाओं में पुस्तकें प्रकाशित होने लगी। पटना, रींवा, नागपुर, बनारस, अयोध्या, दरभंगा और लखनऊ में हिन्दी के लेखकों ने अपने लेखन और प्रकाशन के कार्य को बनाये रखा। लखनऊ में भी राजा रामकुमार भार्गव एवं उनके वंशजों ने पुस्तकें छाप कर हिन्दी के प्रचार प्रसार के क्रम को बनाए रखा। परिणाम स्वरूप हिन्दी साहित्य के गद्य और पद्य का चतुर्मुखी विकास हुआ।

संस्कृत साहित्य में भी काव्य शास्त्र और साहित्यिक संग्रह लिखे गये। कथा साहित्य और नाटक जो बंगाली में लिखे जा चुके थे उनका अनुवाद होता रहा,। उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दी भाषा के जो प्रसिद्ध लेखक और साहित्यकार हुए हैं, उनमें पद्याकर भट्ट, गोकुल नाथ, चन्द्र शेखर बाजपेयी, राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द, बाबू हरिश्चन्द्र भारतेन्दु के नाम उल्लेखनीय है। भारतेन्दु का प्रभाव भाषा व साहित्य दोनों पर गहरा पड़ा। भारतेन्दु मंडल ने हिन्दी को साहित्योपयोगी रूप ही नहीं व्यवहारोपयोगी रूप भी दिया। बिहारी भाषा में लिखने वालों में भानुनाथ झा, हर्ष नाथ झा के नाम उल्लेखनीय है। कृष्णानन्द व्यास देव ने 1843 में अत्यन्त महत्वपूर्ण साहित्य संग्रह राग सगरोडूब-रागकल्प हुम के नाम से प्रकाशित कराया था। बीसवीं शताब्दी के हिन्दी के पद्य लेखकों में मैथिली शरण गुप्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला तथा माखनलाल चतुर्वेदी के नाम उल्लेखनीय हैं। गद्य को सशक्त बनाए रखने के लिए लखनऊ के पंडित दुलारे लाल भार्गव ने " सुधा' ' एवं 'माधुरी' पत्रिकाओं का सम्पादन एवं प्रकाशन किया तथा लखनऊ मे गंगा पुस्तक माला की स्थापना एवं संस्कृति की एक रूपरेखा" की। वे हिन्दी भाषा के कई लेखको एवं कविताएँ के मूक मददगार भी थे। बीसवीं शताब्दी ने जय शंकर प्रसाद सुमित्रानन्दन पन्त एवं सूर्यकान्त त्रिपाठी ने "छायावादी' साहित्य को जन्म दिया महादेवी वर्मा एवं हरिवंशराय बच्चन ने इस परम्परा को और आगे बढ़ाया। प्रेमचन्द बिसवीं शताब्दी का महान लेखक बना। उसके उपन्यासों में गोदान सर्वाधिक चर्चित है। इसके अतिरिक्त वात्सायन, जैनेन्द्र कुमार, यशपाल, चतुरसैन शास्त्री, वृन्दावनलाल वर्मा आदि ने अपनी कलम से इस काल के साहित्य को संजोया। नाटक में सेठ गोविन्ददास व पं. लक्ष्मीनारायण मिश्र ने नये प्रयोग किए। इसी प्रकार निबन्ध में रामचन्द्र शुक्ल, नगेन्द्र, सत्येन्द्र सुमन, हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि आलोचक सामने आये।

उर्दू साहित्य उन्नीसवीं शताब्दी में उर्दू कविता लोकप्रियता की चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। उर्दू के प्रसिद्ध शायर लखनऊ, दिल्ली, पटना और हैदराबाद में रहते थे। इस काल के सर्वाधिक प्रसिद्ध

शायर, गालिब थे, जिनके लिए कहा गया है कि "वह ऐसे कवि और दार्शनिक थे, जिसने विचार भाव, प्रकाशन उपमा, रूप अलंकार, कल्पना, शब्द चयन और बनावट की मौलिकता पर बल दिया था" । गालिब का योग्य शिष्य जकी था । इस काल में अनीस भी एक जन्मजात शायर हो गये हैं, जिन्हें कविता विरासत में मिली थी । उसके मरसिया उर्दू साहित्य के सर्वोत्कृष्ठ नमूने हैं । अल्ताफ हुसैन अली की मुसदद्दश्याहली उर्दू साहित्य की एक अनुपम कृति है । पंजाब में रवीन्द्रनाथ उर्दू के एक प्रसिद्ध शायर हो गये हैं । लेकिन जो प्रसिद्धि मोहम्मद इकबाल ने उर्दू और फारसी शायरी के द्वारा प्राप्त की, वह बेमिसाल हैं । उसने कविता को नई दिशा प्रदान की थी । उर्दू का विकास फोर्ट विलियम कॉलेज के प्रिंसीपल डॉ. जौन गीलक्रीस्ट की देखरेख में प्रारम्भ हुआ था। इसलिए उर्दू गद्य का उन्हें पिता कहकर पुकारा जाता है । उर्दू गद्य की सर्वाधिक उन्नति उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुई । सर सैयद आमद खां के अतिरिक्त हाली विविली जकुल्ला, चिराग अली, नजीर अहमद, आजाद इत्यादि ऐसे लेखक थे, जिन्होंने उर्दू साहित्य के विचार और शैली को उदार रूप प्रदान किया और इतिहास, भाषा, कथा साहित्य, विज्ञान विषय की पुस्तकों तथा पत्र पत्रिकाओं के प्रकाशन के द्वारा इसे समृद्ध बनाया ।

23.5.1 क्षेत्रीय भाषाओं में साहित्य

मराठी में विष्णु शास्त्री ने मराठी गद्य साहित्य के विकास की अलख जगायी थी । अरुण साहब किर्लोस्कर ने मराठी नाटक की नींव डाली । गुजरात के दयाराम ने गीति काव्य की रचना की परम्परा डाली । पारसी जाति के सुधारक बहरामजी मलाबारी ने अपनी प्रभावशाली रचनाओं के द्वारा गुजराती को सुदृढ़ रुप प्रदान किया । न्यायमूर्ति काशीनाथ तैलंग संस्कृत और मराठी के प्रकाण्ड पंडित थे, उनके मराठी भाषा के मत्था का प्रदेश के लोगों पर उत्तेजक प्रभाव पड़ा । बंगला भाषाओं की कई रचनाओं का मराठी मे अनुवाद हुआ । मालाबार, त्रावणकौर कोचीन में भी स्थानीय भाषाओं के विकास को क्रमश: चण्डु मैनन और इह लेरबन ने जारी रखा । मद्रास में साधियानाथय ने दो प्रसिद्ध उपन्यास लिखे । इस प्रकार बंगाल के पुनर्जागरण काल में राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत साहित्य ने उड़ीसा और महाराष्ट्र के लेखकों और कवियों को भी प्रभावित किया। उड़ीसा के साहित्यकारों में सर्वश्री राधानाथ राय, मधुसूदन राव और फकीर मोहन सेनापति का नाम उल्लेखनीय है ।

उत्तरी- पश्चिमी भारत व पंजाब के क्षेत्र में कश्मीर में ऋषि सूफी सन्तों के साहित्य का बहुत प्रभाव रहा है । इसी भाँति सिक्ख धर्म के आदि ग्रन्थ ने इस क्षेत्र को एक नया साहित्य व उत्साह दिया। फिर "काफी' परम्पराओं का सिलसिला चल पड़ा । पंजाब में बुले शाह, सिन्ध में सिन्ध अब्दुल लतीफ का आँचलिक साहित्य जुबान के द्वारा घर-घर में चला गया । सचल सरमस्त ने सिन्धी एवं सैरायिकी दोनों में लिखा । 18 वीं शताब्दी से पंजाबी में हीरराँझा एवं सोहनी-महिवाल ने पंजाबी भाषा व साहित्य को घर-घर में फैला दिया। आधुनिक काल मे भाई वीरसिंह, गुलाम अहमद मंजूर, अमृता प्रीतम, शिव कुमार बटालवीं आदि ने इस क्षेत्र के साहित्य को समृद्ध किया । पश्चिमी क्षेत्र में गुजराती व राजस्थानी का भी पूर्व मध्यकाल के पश्चात् शनै: शनै: विकास हुआ । बल्कि दक्षिणी राजस्थान व उत्तरी गुजरात में तो एक मिश्रित शैली प्रारम्भ हुई । 14 वीं शताब्दी का 'कान्हडे प्रबन्ध' इसका श्रेष्ठ उदाहरण है । आगे चलकर नरसिंह मेहता व मीराबाई ने इसी शैली को आगे बढ़ाया । वैसे ही जैसे भक्ति आन्दोलन के नेताओं ने मराठी को एक सशक्त माध्यम बनाया । राजस्थानी में 'बात' व 'ख्यात' शैली बहुत विकसित हुई । मुहणोत नैणसी, बांकीदास व दयालदास प्रसिद्ध ख्यातकार हुए हैं । बूंदी के सूरजमल मिश्रण ने

राजस्थानी की वीररस की परम्परा को एक नयी पहचान दी । 19वीं शताब्दी में गुजराती में दलपतराम व उसके पुत्र नानालाल ने गुजराती साहित्य को अपनी काव्य शैली से समृद्ध किया । शताब्दी के अन्त में गुजराती में गोवर्द्धन राम की रचना सरस्वती चन्द तथा व मराठी में हरिनारायण आप्टे की विभिन्न रचनाओं ने इन प्रान्तीय साहित्य को एकदृढ़ आधार दिया । महात्मा गांधी ने सरल गुजराती में अपने विचार रखे ।

दक्षिणी भारत में साहित्य में तामीलीकरण एवं संस्कृत करण दोनों का प्रभाव पूरे मध्यकाल में छाया रहा । तामिल, भाषा में 'युद्ध' एवं 'प्रेम ' विषय पर अनेक रचनाएँ होती रहीं व साथ ही साथ तामिल पुराणों की रचनाओं का भी खूब जन्म हुआ । काम्बान की रामायण की गाथा पर आधारित रचना ' ईरामावतरम' पूर्व मध्यकाल की एक उत्कृष्ट रचना है । जिसमें भक्ति व लोकगाथाओं का प्रचुर प्रभाव भी रहा है । आगे चलकर अरुणाचल कविरायर एवं गोपाल कृष्ण भारती तामिल में लोकप्रिय लेखक हुए । कन्नड़ में संस्कृत साहित्य से जुड़ाव अधिक रहा है । यह बात कन्नड़ साहित्य के ' तीन रत्न' कवि पाम्पा, पोन्ना और राना की रचनाओं से भी स्पष्ट होती है । आगे चलकर वीर शैव सन्तों ने सरल कन्नड़ भाषा में साहित्य को प्रोत्साहित किया। इनकी रचनाएं 'वचन' या ' वचना' कहलाती है और प्रमुख वचनाकार थे, बासवन, अवम्मा प्रभु एवं महादेवी । तेलगु के आदि कवि 11 वी शताब्दी के लेखक नन्नाया थे । तेलगू में महाभारत का अनुवाद इन्होंने ही प्रारम्भ किया । विजयनगर साम्राज्य में तेलगू का चहुँमुंखी विकास हुआ तेलगू मेंभक्ति रचनाओं के जन्मदाता अनामाचार्य हैं । मलयालम में भी रामायण व महाभारत की रचनाओं का अनुवाद मुख्यत: हुआ । शनै: शनै : मलयालम में नाटकीय भावों को मुखरित करने का साहित्य प्रगति पर आया और इस दृष्टि से 18वीं शताब्दी के कंचन नेम्बियर का नाम प्रतिष्ठा के साथ लिया जा सकता है ।

आधुनिक काल में तामिल में सुब्रमण्यम भारती एवं वी. वी. एस. अय्यर को इस बात का श्रेय दिया जा सकता है कि उन्होंने तामिल को एक आधुनिक साहित्य की लब्ध प्रतिष्ठित भाषा बना दिया। ये लेखक समाज सुधारों मे भी विश्वास रखते थे । इस दृष्टि से तेलगू मे के. वीरेसलिंगम पण्टालु का उल्लेख किया जा सकता है । मलयालम के त्रिरत्न हैं कुमारन असान दी. नारायण मेनन और उल्लूर परमेश्वर अय्यर, जिन्होंने अपनी काव्य रचनाओं से समकालीन सामाजिक परिस्थितियों व परम्पराओं के मध्य सामजस्य स्थापित किया । उपन्यासकारों में चन्दू मेनन और सी. वी. रमन पिल्लई मुख्य हे ।

आधुनिक काल में राजा राममोहन राय ने अंग्रेजी को भारत में प्रोत्साहन दिया । आगे चलकर महात्मा गांधी, रविन्द्र नाथ टैगोर, एस. राधाकृष्ण और जवाहरलाल नेहरू की लेखनी से भारतीय साहित्य में अंग्रेजी ने भी महत्वपूर्ण स्थान लेना प्रारम्भ कर दिया । आगे चलकर मुल्कराज आनन्द ने अपने उपन्यासों व आर के. नारायण ने अपनी मालगुडी की छोटी-छोटी कहानियों से इस भाषा में भारतीय संवादों का प्रसार करना प्रारम्भ किया। भाबनी भट्टाचार्य, मनोहर मालगांवकर राजाराव नीदर चौधरी, अरुण विश्वास, नयनतारा सहगल व रूथ झाबवाला ने स्तरीय प्रकाशन कराये ।

स्पष्ट है कि उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक और धार्मिक सुधार आन्दोलन के फलस्वरूप भारत में सांस्कृतिक पुनर्जागरण आया । उसने प्राचीन इतिहास और सभ्यता में जिज्ञासा की भावना देशवासियों में जागृत की । ब्रिटिश ईस्ट इंडिया के गर्वनर वारेन हैस्टिंग्स ने 1784 में बंगाल एशियाटिक सोसायटी की स्थापना करके योरोपीय विद्वानों को भारतीय साहित्य और इतिहास की जानकारी के

लिए प्रेरित किया। विदेशी विद्वानों से प्रेरित होकर भारतीय विद्वानों ने जिनमें डी. के एम. बनर्जी, राजेन्द्रलाल मिश्र, भगवानलाल इन्द्र, आर. जी. भण्डारकर, आरसी. दत्त, न्यायमूर्ति, एम. जी. रानाडे, हरप्रसाद शास्त्री, यूसी. बट्व्याल और राखाल बनर्जी के नाम उल्लेखनीय है । इन लोगों ने भारत की प्राचीन सभ्यता के अध्ययन में कलकत्ता विश्वविद्यालय, विश्वभारती, पूना के भण्डारकर, ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट और एशियाटिक सोसायटी के मच से भारतीय सभ्यता और संस्कृति को जीवन के सम्मुख उजागर किया । लॉर्ड कर्जन के द्वारा पुरातत्त्व विभाग के पुनर्गठन के बाद उसकी बहुमूल्य वार्षिक रिपोर्ट प्रकाशित होती रही । जिनके परिणाम स्वरूप प्राचीन भारत के इतिहास के अज्ञात महत्वपूर्ण तथ्यों की जानकारी जन साधारण को भी प्राप्त होने लगी । लार्ड कर्जन ने एन्सीएन्ट मोन्यूमेण्ट रिजर्वेशन एक्ट पारित करके इस देश के इतिहास और संस्कृति के स्मारकों को नष्ट होने से बचाया था ।

दर्शन और विज्ञान के क्षेत्र में भी आधुनिक काल में काफी प्रगति हुई है । रविन्द्रनाथ ठाकुर और द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर के बाद भारत के प्रसिद्ध दार्शनिक सर ब्रजेन्द्र नाथ सील, डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन और डा. एस. एन. दास गुप्ता हुए हैं, जिनकी प्रसिद्ध दार्शनिक रचनाएँ स्थाई मूल्य की कृतियाँ हैं । इन लोगों के द्वारा भारतीय दर्शन की पुर्नव्याख्या और पुनर्निमाण किया गया । विज्ञान के क्षेत्र में भी अध्ययन और अध्यापन की प्रेरणा पाकर डा. जगदीश चन्द्र बोस, डा. पी. सी. राय, डा. सी. वी. रमन और डा. मेघनाथ शाह जैसे विद्वानों ने भारत की प्रतिभा की ख्याति अन्तर्राष्ट्रीय जगत में फैला दी । छोटा नागपुर की जातियों के बीच अनुसंधान का कार्य प्रारम्भ करके, राय बहादुर शरद चन्द राय ने मनुष्य विज्ञान के सम्बन्ध में नया मार्गदर्शन प्रस्तुत किया । भूगर्भ विद्या, पशु और पक्षी से सम्बन्धित शास्त्रों और वनस्पति शास्त्र का भी अध्ययन व्यापक स्तर पर किया गया था । वनस्पति शास्त्र के अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के विद्वान लखनऊ के डा. बीरबल साहनी थे, जिन्होंने वहीं एक विश्व प्रसिद्ध वनस्पति गार्डन (अजायबघर) स्थापित किया था । डा. सालिम अली ने पशुपक्षियों के सम्बन्ध में गहन अध्ययन करके इस देश की सुषुप्त प्रतिभा को पुनर्जीवित किया । उनके प्रयासों का ही फल है कि आज भरतपुर का घनापक्षीबिहार विश्व प्रसिद्ध हो गया है ।

23.6 इकाई सारांश

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि युग-युगीन भारत में साहित्य का उद्भव और विकास विभिन्न चरणों में निरन्तर रूप से होता रहा । धार्मिक ग्रंथो की रचना प्राचीन काल में ऋषि, महर्षियों ओर आचार्यों के द्वारा की गई तो मध्य काल में भी हदीस के संकलन की जिज्ञासा को लेकर खलीफाओं के शासन काल में वंशावली लिखने की जो परम्परा इस्लाम में प्रारम्भ हो चुकी थी वही भारत के तुर्क अफगान सुल्तानों ने भारत में भी प्रारम्भ करा दी । इन लोगों ने धार्मिक ग्रंथो के अतिरिक्त तवारीख लेखन, अनुवाद और यात्रा संस्मरणों पर अधिक बल दिया था । मुगल सम्राटों के शासन काल में आत्म कथाएँ और जीवनियाँ लिखने की परम्परा प्रारम्भ हो गयी थी । अंग्रेजों को भारत के मुस्लिम शासकों से विरासत में साहित्य सृजन की सम्पन्न परम्परा मिली थी, जिसे बनाये रखने के साथ-साथ उसमें विकास भी किया गया ।

उपर्युक्त वर्णन में यह भी स्पष्ट किया गया है कि प्रारम्भिक भारतीय साहित्य की रचना संस्कृत भाषा में हुई थी । कालान्तर में प्राकृत, पाली और अन्य प्रान्तीय भाषाओं का उद्भव और विकास हुआ । मध्य काल में भारतवासियों के बोलचाल की भाषा के रूप में खड़ी बोली का जन्म हुआ । मुगल काल

में हिन्दू और मुस्लिम लेखकों को साहित्य लेखन की प्रेरणादायक सम्पन्न विरासत प्राप्त हुई थी । क्योंकि चौदहवीं शताब्दी के बाद से ही भक्ति आन्दोलन के संतों ने अपनी वाणियों के द्वारा हिन्दुस्तानी को मुखरित किया था । हिन्दी भाषा के महान कवि सूरदास और तुलसीदास को भारतीय इतिहास के शेक्सपीयर, कालिदास से प्रेरणा मिली । उन्होंने बाल्मीकि, रामायण के आधार पर सोलहवीं शताब्दी में रामचरित मानस लिखी । कृष्ण की भक्ति का गुणगान करने के लिए सूरदास और मीरा ने वृहद साहित्य की रचना की । यह क्रम उन्नीसवीं और बीसवी शताब्दी में भी चलता रहा । अठारहवीं शताब्दी के अन्त से बंगाल साहित्य का उल्लेखनीय परन्तु सर्वतोमुखी विकास प्रारम्भ हुआ था । नाटक और उपन्यास की प्रेरणा से ही हिन्दी, मराठी तथा अन्य भाषाओं में विविध साहित्यिक कृतियों की रचनाएँ की गई । भारतीय साहित्य के पुनरुत्थान का श्रेय उन्नीसवीं शताब्दी के धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों को हैं । 1835 में लार्ड मैकाले ने अंग्रेजी भाषा को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाकर भारत में साहित्य की प्रगति की अनजाने में नींव डाल दी थी । इन सबका मिलाजुला परिणाम यह निकला कि भारतीय साहित्य उत्तरोत्तर प्रगति की और अग्रसर होता रहा और गुरुदेव रविन्द्रनाथ टैगौर, सर सी. वी. रमन जैसे प्रतिभाशाली विद्वानों के असीम प्रयास के कारण विश्व के मानचित्र पर अपना प्रभाव पुर्नस्थापित करने में सफल हुआ । पाठ के समूचे वर्णन से यह कहावत स्वत चरितार्थ हो जाती है "साहित्य समाज का दर्पण होता"।

23.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

(अ) निम्न प्रश्नों का उत्तर आप 150 शब्दों में दीजिये ।

(1) वैदिक साहित्य का संक्षेप में वर्णन कीजिए ।

(2) चीनी एवं मुस्लिम यात्रियों के संस्मरणों का साहित्यिक दृष्टि से क्या महत्व है7

(3) आधुनिक युग में बंगला साहित्य के विकास का वर्णन कीजिए ।

(4) भारतीय साहित्य में रामायण की कथा का महत्व बताइये ।

(ब) निम्न प्रश्नों का उत्तर 500 शब्दों में दीजिए

(1) फारसी भाषा में लिखित ऐतिहासिक ग्रन्थों का उल्लेख कीजिए ।

(2) उर्दू भाषा के उद्भव एवं विकास का उल्लेख कीजिए ।

(3) "संस्कृत सब भारतीय भाषाओं की जननी है" इस कथन को स्पष्ट कीजिए ।

(4) हिन्दी भाषा के विकास पर एक लेख लिखो ।

(5) आधुनिक काल में क्षेत्रीय भाषाओं के उत्थान पर अपने विचार व्यक्त कीजिए ।

23.8 प्रासंगिक पठनीय ग्रन्थ

(1) ए. बी. कीथ, ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, आक्सफोर्ड 1920

(2) ए. स्कीमेल, इस्लामिक लिटरेचर इन इण्डिया, 1973

(3) आर. ए. द्रिवेदी, ए क्रिटिकल सर्वे आफे हिन्दी लिटरेचर, 1966

इकाई सं. 24 "भारत में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी-एक ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन -

इकाई की रूपरेखा

24.1 प्रस्तावना

24.2 उद्देश्य

24.3 भारत मे विज्ञान के इतिहास का महत्व

24.4 प्राचीन भारत में विज्ञान

- 24.4.1 पाषाण युग
- 24.4.2 कांस्य युग
- 24.4.3 सिन्धु घाटी सभ्यता
- **24..4.4** लौह युगीन भारत में विज्ञान
- 24.4.5 भारत में विज्ञान का स्वर्ण युग
  - 24.4.5.1 मौर्य साम्राज्य में प्रौद्योगिकी उन्नति
  - 24.4.5.2 दक्षिणी भारत में प्रगति
  - 24.4.5.3 गुप्त काल में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी

24.5 मध्य युग में विज्ञान

- 24.5.1 अरबों की विज्ञान को देन
- 24.5.2 अलबेरूनी एवं भारतीय विज्ञान
- 24.5.3 मध्यकाल में विज्ञान की प्रगति
  - 24.5.3.1 खगोल तथा भौतिकीय विज्ञान
  - **24.5.3.2** भूगोल
  - **24.5.3.3** रसायन शास्त्र
  - 24.5.3.4 प्रौद्योगिकी नवीनताएं तथा आविष्कार
  - 24.5.3.5 सैन्य प्रौद्योगिकी
  - 24.5.**3**.6 मध्य युग में विज्ञान के क्षेत्र में प्रगति स्थिर होने के कारण

24.6 औपनिवेशिक भारत में विज्ञान

- 24.6.1 ईस्ट इण्डिया कम्पनी का भारत मे विज्ञान के प्रति दृष्टिकोण
- 24.6.2 ब्रिटिश सरकार की नीतियाँ
  - 24.6.2.1प्रारम्भिक प्रयास
  - 24.6.2.2 शिक्षा
- **24.6.3** बीसवी शताब्दी में प्रयत्न
  - 24.6.3.1 विश्व स्तर पर भारतीय अनुसंधान

24.6.3.2 प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् के चरण
24.7 स्वातन्त्र्योत्तर भारत में विज्ञान एवं तकनीकी
24.7.1 उद्देश्य
24.7.2 शिक्षा एवं अनुसन्धान सेवाओं में विस्तार
24.7.3 भारतीय विज्ञान की प्रगति में मूल बाधाएँ
24.8 इकाई सारांश
24.9 अभ्यासार्थ प्रश्न
24.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

24.1 प्रस्तावना

विश्व के इतिहास में विज्ञान का सदैव ही महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है, क्योंकि विश्व के विकास के ऐतिहासिक क्रम में विज्ञान ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है । विज्ञान को ज्ञान का एक महत्वपूर्ण पक्ष स्वीकार किया जाता है । वैसे भी जीवन का कौनसा क्षेत्र है जो अपनी परिकल्पना एवं कार्य सम्पादन में विज्ञान की उपयोगिता पर निर्भर न रहता हो - चाहे वह यातायात, संचार, चिकित्सा, कृषि उद्योग हो अथवा शिक्षा मनोरंजन । सब विवाद इस बिन्दु पर है कि विज्ञान क्या सदैव मानव के लिये लाभदायक ही रहा है अथवा इसने उसके विनाश की शक्तियाँ भी जुटाई है । विचारकों की इस सम्बन्ध में अलग-अलग धारणाऐं हैं । पर एक बात स्पष्ट है कि विज्ञान का उपयोग अगर व्यक्तिगत महत्वकांक्षाओं की पूर्ति में न किया जाकर सामान्य हितों के लिये किया गया है या सामाजिक सन्दर्भों में इसका मूल्यांकन हुआ है तो वह सदैव लाभकारी ही रहा है ।

अर्थात् विज्ञान विषय सामाजिक, आर्थिक एवं नैतिक प्रश्नों के साथ आन्तरिक रूप से जुड़ा हुआ है । ऐसे बहुआयामी एवं विविध प्रयोगों वाले ज्ञान का भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में अध्ययन अपने आप में महत्वपूर्ण है । इस दृष्टि से भी यह उल्लेखनीय है कि सामान्यत: यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि भारत में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की उन्नति बहुत धीमी रही है इसी कारण यह देश अपनी समस्त आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक उपलब्धियों के पश्चात् भी विज्ञान के क्षेत्र में उन्नत राष्ट्रों के सम्मुख निरन्तर परास्त होकर अपनी राजनैतिक सार्वभौमिकता खोता रहा है । अत: यह आवश्यक है कि इस सम्बन्ध में अध्ययन किया जाये कि 'सांस्कृतिक उपलब्धियाँ वैज्ञानिक प्रगति से अलग होकर अपना अस्तित्व खो देती है अथवा नहीं? या दोनों प्रगतियां परस्पर एक दूसरे की पूरक हैं, प्रश्न मात्र उनके उपयोग के उद्देश्य का है?

24.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् :

1. आप यह जान पायेंगे कि भारतीय संस्कृति एवं परम्परा में विज्ञान के बारे में किस प्रकार का सोच हैं?
2. भारतीय जीवन एवं संस्कृति विज्ञान से कहाँ तक प्रभावित है?
3. भारत में हजारों वर्ष पूर्व गौरवमयी शुरूआत के पश्चात् भी भारत विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में पश्चिमी देशों रैन पिछड़ गया ।

4. भारत में विज्ञान के इतिहास का किस प्रकार का क्रम है?

24.4 भारत में विज्ञान के इतिहास का महत्त्व

इस पक्ष का अध्ययन निम्न बिन्दुओं के कारण है : -

(1) भारत के बाहर के देशों में यह धारणा है कि भारतीयों की विज्ञान में रुचि नहीं है । भारतीयों का विज्ञान के प्रति सदैव ही उपेक्षा का भाव रहा है । भारतीय सभ्यता अध्यात्मवाद है और विज्ञान भौतिक सुखों को लाने वाला है । इस सोच के कारण भारतीयों का विज्ञान से कोई लेना देना नहीं है । भारत का चिन्तन धर्मग्रन्थों के मूल्याँकन में है न कि प्रयोगशाला के परीक्षणों में । इस कारण भारतीय संस्कृति के केन्द्र बिन्दु विज्ञान की परिधि में नहीं आते हैं ।

(2) पर जब हम यह स्वीकार करते है कि भारत के प्राचीन इतिहास के काल में विज्ञान का इतिहास गौरवमयी रहा है और साथ में इस पक्ष पर भी बल दिया जाता है कि प्राचीन भारत की आध्यात्मिक उन्नति अपने प्रखर शीर्ष पर थी तब तो इसका यह सीधा अर्थ निकलता है कि प्राचीन भारत में ये दोनों उन्नत पक्ष परस्पर विरोधी न होकर सामंजस्य में समानान्तर गति से चल रहे थे । अत: भारत में विज्ञान का अध्ययन विशेषकर समाज एवं संस्कृति के संदर्भ में प्रचलित धारणाओं में न किया जाकर इसके कालक्रम में बहु आयामी पक्षों द्वारा किया जाना चाहिये।

(3) विज्ञान एक सामाजिक संस्था है जिसमें विश्व के अनेक लोग बड़ी संख्या में मिलकर कार्य करते हैं, जैसे कि ज्ञान की सीमाओं को बढ़ाने अथवा व्यावहारिक, समस्याओं को सुलझाने के लिए विज्ञान का प्रयोग करते हैं । जिन विधियों और व्यवहारों को इसके लिए अपनाया जाता है उन्हें सामान्यत: वैज्ञानिक विधि कहा जा सकता है । विज्ञान की विधि अनेक संक्रियाओं पर आधारित होती है। जिनमें कुछ मानसिक और कुछ शारीरिक होती है । प्रेक्षण एवं प्रयोग विज्ञान के लिए अनिवार्य है ।

24.4 प्राचीन भारत में विज्ञान

24.4.1 पाषाण युग

इस खण्ड में हम यह अध्ययन करेंगे कि किस प्रकार आदि मानव समाज की विशेषताओं में विज्ञान की उत्पत्ति हुई । आदि मानव अपने उपयोग के लिये पत्थर के औजारों को कार्य में लेता था। अत: उस युग को '' पाषाण युग' ' कहते हैं ।आदि समाज ने भोजन इकट्ठा करने एवं पकाने, प्रकृति से अपनी सुरक्षा पाने एवं एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने के लिये साधनों व उपकरणों का आविष्कार किया । 'पुरातत्त्व के प्रमाण यह स्पष्ट करते हैं कि बड़े-बड़े पत्थरों को निश्चित आकार में काटकर औजार बनाने की उसी प्रकार की योजना बनायी गयी जिस प्रकार कोई इन्जीनियर किसी मशीन के पुर्जे तैयार करने के लिये बनाता है । इस स्तर पर यह मुख्य प्रगति थी - ' 'मास्टर औजारों' ' का आविष्कार । अर्थात् ऐसे औजार। का आविष्कार जिससे दूसरे औजार बनाये जा सकें । इससे विभिन्न किस्मों के उपकरण बनाने की संभावना बढ़ गयी ।

इस औजार बनाने की प्रक्रिया ने ढालने एवं पीटने आदि की वर्तमान विधियों की नीव भी डाली। औजार सिर्फ शिकार करने के काम ही नहीं आते थे बल्कि लकड़ी जैसे नरम पदार्थो को सही आकार देने के काम भी आते थे । भारत में दक्षिणी -पूर्वी तट के रेत के टीलों में पत्थर के सूक्ष्म औजार मिलते

हैं । ये 3000 हजार वर्ष ईसा पूर्व या उससे भी पूर्व के माने जाते हैं । आग की उपयोगिता की पहचान कब हुई होगी, यह कहना कठिन है । लेकिन जिंस क्षण मनुष्य को इसका आभास हुआ होगा तभी उसे खाद्य पदार्थो को पकाकर खाने का ज्ञान हुआ होगा । इसके बाद शीघ्र ही उसे मिट्टी के बर्तन पकाने एवं धातु को पिघलाने का ज्ञान हुआ होगा । पाषाण युग के समाप्त होने के पूर्व मिट्टी के पके हुए बर्तन तैयार करना एक महान् उपलब्धि थी ।

प्रारम्भ में मनुष्य प्रकृति की कृपा या विभीषिका पर पूर्णतया आश्रित था और इस दिशा में उसकी समझ की कमी ने उसे प्रतीकों एवं जादू-टोने पर निर्भर कर दिया होगा । पर इसके साथ मनुष्य द्वारा पदार्थों के गुणों की कल्पना भी की जाने लगी थी । जैसे पत्थर में लोहे को अपनी ओर खींचने की कल्पना । इन कल्पनाओं ने पाषाण युग में भी विज्ञान के उद्भव में सहायता की । वस्तुत: पाषाण युग में लोगों के जीवित रहने की इच्छा ने ही उन्हें प्रेक्षण (OBSERVATION) करने के लिये प्रेरित किया। यह तथ्य भारत और मिश्र जैसे स्थलीय देशों के लिये अधिक सत्य है, जहाँ स्पष्ट मौसम असमान और भौगोलिक परिस्थितियाँ हैं । इसी प्रकार के ज्ञान भंडारण से जीव विज्ञान एवं रसायन शास्त्र पर गहरा प्रभाव पड़ा । इसी प्रकार वस्तुओं एवं घटनाओं के वर्गीकरण के भान ने इस चेतना को अधिक विस्तृत किया। इसमें पहला वर्गीकरण चेतन (जीवनधारी), जड़ (पदार्थ), तीव्र इच्छाओं और कार्यो के रूप में हुआ । जीवशास्त्र के विकास में यही चरण मुख्य है ।

भारतीय उपमहाद्वीप में शोतयुग यूरोप की भांति न तो तीव्र था और न ही व्यापक । इस कारण यहीं के लोगों को यूरोप की भाँति अधिक धुमक्कड़ नहीं होना पड़ा और न ही भोजन की विशेष कमी भी आयी । इसका अर्थ यह भी निकलता है कि इस उपमहाद्वीप में यूरोप की तुलना में अधिक वर्षों तक साधारण तकनीकी व ज्ञान की संस्कृति चलती रही ।

24.4.2 कांस्य युग

मानव समाज का अगला युग कांस्य युग कहलाता है । वास्तव में इस युग में उत्पादन की नयी प्रक्रिया-कृषि प्रारम्भ हुई । कृषि का प्रारम्भ कब हुआ इसका हमारे पास कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है, लेकिन जंगली बीजों के इधर-उधर बिखरने एवं उनसे अनाज के ढेर लगने से ही उन्हें इसकी प्रेरणा मिली होगी । फिर इस फसल व अनाज के कारण ही मनुष्य पूर्व की तुलना में अधिक उपयुक्त भूमि पर स्थायी रूप से बसने लगा । इसी कारण विश्व में अन्य सभ्यताओं के साथ साथ भारत में भी नदियों की एवं घाटियों की सभ्यता सिन्धु व सरस्वती नदी की नगरीय व्यवस्था विकसित हुई ।

उस समय तक लोग पदार्थो के उत्पादन में नदियों के महत्व को भली भांति समझने लगे थे। सिंचाई के कृत्रिम उपायों की वृद्धि ने उत्पादन व तकनीकी दोनों को एक नये परिवेश में डाल दिया । बढ़े उत्पादन ने क्रय-विक्रय, व्यापार, प्रशासन की आवश्यकता और न जाने बहुत सी बातों को जन्म दिया । जिसके फलस्वरूप तकनीक व भण्डारण की व्यवस्था में निरन्तर सुधार होने लगा । जैसे मिट्टी के बर्तन बनाने वालों का अपना ही एक वर्ग बन गया । इसके अतिरिक्त कृषि उत्पादन एवं भण्डारण की प्रक्रिया ने समाज में एक ऐसे वर्ग का अभ्युदय किया जो उत्पादन की प्रक्रिया से सीधा न जुड़कर बल्कि उत्पादन की व्यवस्था पर नियन्त्रण करने को आतुर रहने लगा । शासकीय वर्ग का जन्म इसी पेचीदगी में है । उत्पादन एवं उपभोक्ता के बीच इस विभाजन की व्यवस्था ने विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी पर गहरा प्रभाव डाला । फिर इस काल में नगरीकरण की प्रगति तथा धातुओं और मिश्रित धातु कांसे की खोज और उसके उपयोग ने तकनीकी व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन लाना प्रारम्भ कर दिया ।

वस्तुओं की संख्या या मात्रा का हिसाब किताब रखना, उनकी गिनती नाप तौल के लिए मानक तैयार करना और पंचांग आदि की खोज कांस्य युग में मात्रात्मक विज्ञान (Quantitative science) के आधार थे ।

मिट्टी के बर्तन बनाने के लिये तैयार की गयीं आग की भट्टियों के विकास के बाद तांबा तैयार करने के लिय ताम्र अयस्कों (Copper Ores) का उपयोग होने लगा । बाद में राँगे और ताँबे की मिश्र धातु की खोज से दृढ़ हथियार व बर्तन बनने लगे । नये धातु के उपयोग का अर्थ था -कृषि तथा बढ़ईगिरी, राजगिरी (चिनाई) औजार एवं बर्तन बनाने जैसे अन्य तकनीकी क्षेत्रों में क्रान्तिकारी परिवर्तन। इससे व्यापार एवं वाणिज्य क्षेत्र में भी नये युग का प्रारम्भ हुआ । पूर्वी राजस्थान क्षेत्र में ताम्र अयस्क प्रचुर मात्रा में मिला जिसे बेबीलोन तक निर्यात किया गया ।

24.4.3 सिन्धु घाटी सभ्यता

भारतीय उप महाद्वीप के उत्तरी-पश्चिमी क्षेत्र में एक विशाल एवं उन्नत सभ्यता विद्यमान थी जिसे हड़प्पा या सिन्धु सरस्वती (घग्गर) सभ्यता कहा जाता है । 1920 ई. तथा उसके पश्चात् हड़प्पा, मोहन जोदड़ो (आधुनिक पाकिस्तान), कालीबंगा (राजस्थान), रोपड़ (हरियाणा), पंजाब व लोथल (गुजरात) स्थलों में मुख्य रूप से खुदाइयों के बाद इस महान् सभ्यता का मान हुआ । यह सभ्यता प्राचीन भारत में विज्ञान एवं तकनीकी के विकास की स्थिति का स्वयं परिचय देती है ।

सिन्धु घाटी के प्राचीन शहरों में जिस योजनाबद्ध ढंग से बस्तियाँ बसायी गयी थी उनकी रुपरेखा देखते ही बनती है । मकान पक्की ईंटों से निर्मित थे और वे 200 x 400 गज के आयताकार क्षेत्र में बनाये गये थे । बस्तियों की सड़कें बिल्कुल ठीक-ठीक समकोण पर मिलती थीं । यह सब रेखागणित के अच्छे ज्ञान के बिना असम्भव था । उल्लेखनीय है कि लगभग 600 - 300 वर्ष ईसा पूर्व एक ग्रन्थ शल्वसूत्र में ज्यामितीय प्रमेय और उन्हें सिद्ध करने की विधियों का विस्तृत विवरण मिलता है । इन सूत्रों का उपयोग वैदिक युग में धार्मिक अनुष्ठानों और यज्ञ आदि के लिये अग्नि की वेदी बनाने के लिये किया जाता था । इन तथ्यों के आधार पर इतिहासकारों का यह अनुमान है कि शल्य ज्यामितीय सिंधु घाटी सभ्यता के प्राचीन युग की देन है जो ' परम्परागत ढंग से बाद की पीढ़ियों को मिली । इसके अलावा शल्व सूत्र में ज्यामितीय आकृतियाँ बनाने, विभिन्न क्षेत्रफलों वाले एक जैसे रेखाचित्र खींचने तथा ज्यामिती से सम्बन्धित अनेक अन्य समस्याएँ हल करने की विधियाँ दी गई हैं । शल्व सूत्र में 2 का वर्गमूल 1, 4142156 दिया गया है । इन सब तथ्यों के आधार पर हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि सिन्धु घाटी के लोगों को रेखागणित का काफी अच्छा ज्ञान था। उस युग के लोग कांसे का प्रयोग केवल मजबूत चाकू, छेनी और आरी आदि उपकरणों को बनाने के लिये करते थे । उस समय के बर्छी या भाले बिना धार के थे जो लड़ाई के लिये बेकार थे ।

सारांश यह है कि मनुष्य को अपनी आवश्यकताएं पूरी करने के लिए प्रकृति पर नियंत्रण पाने तथा उसे अपने अनुरूप ढ़ालने में कृषि से सहायता मिली । इससे शहरों का जन्म हुआ । विकसित हो रहे शहरों की आवश्यकताओं ने वैज्ञानिक और तकनीकी गतिविधियों को तीव्र गति प्रदान की और इस प्रकार मनुष्य के ज्ञान का भंडार और बढ़ा । नयी तकनीकी की क्रियाशीलता से उत्पादन के उत्तम साधन उपलब्ध हुए लेकिन उत्पादन के असमान बंटवारे के फलस्वरूप साधनों पर राजाओं पुरोहितों एवं दार्शनिकों के वर्ग का नियंत्रण बढ़ गया और उत्पादक-कृषक, श्रमिक एवं कारीगर उनसे क्रमश: छोटे

पड़ने लगे बल्कि समय के साथ-साथ दोनों वर्गों के मध्य अन्तर बढ़ता चला गया । जिसका एक दुष्परिणाम यह निकला कि समाज एवं विज्ञान के क्षेत्र में एक गतिहीनता आ गयी और वह स्थिति बर्बर आक्रमणों को झेल नहीं सकी ।

24.4.4 लौह युगीन भारत में विज्ञान

लौह युग में ऐसी कोई सनसनी पूर्ण, प्रौधोगिक प्रगति नहीं हुई जैसी कांस्य युग में देखने को मिलती है । लेकिन सभ्यता के प्रसार के साथ एक सस्ती और प्रचुर मात्रा में मिलने वाली धातु के बहुत अच्छे प्रभाव पड़े थे और समाज के सभी वर्ग उससे प्रभावित हुए थे । यह काल बहुत से खानाबदोश चरवाहों का किसानों में बदल जाने का काल था । ऐसी मान्यता है कि भारत में यह ऋग्वैदिक काल (1500 -700 वर्ष ई. पू) था जब आर्य घूमते हुए स्थानीय लोगों से संघर्ष करते हुए बसने के उपक्रम में थे ।

यजुर्वैदिक काल (700 - 400 वर्ष ईसा पूर्व) मे कृषि के विकास व सामरिक गतिविधियों मे पैनापन लाने के लिये लौह की खपत बढ़ गयी थी । लौह के हल तथा अन्य उपयोगों ने देश भर मे लौह की नयी जमावटों की खोज प्रारम्भ कर दी । आर्यों ने न केवल दक्षिणी- पूर्वी बिहार बल्कि आन्ध्रा कनार्टक क्षेत्र से धातुओं के अयस्कों को प्राप्त करना प्रारम्भ कर दिया था । आर्यों को बढ़िया भट्टों में नियंत्रित अग्नि द्वारा ताम्र को शोधने की तकनीक ज्ञात थी । इस काल के अन्त तक विज्ञान, चिकित्सा और प्रौद्योगिकी को पूर्णकालिक पेशे के रूप में अपनाने का प्रचलन प्रारम्भ हो गया था । पूरे उत्तरापथ से विद्यार्थी विषय विशेष के प्रशिक्षण के तक्षशिला जैसे अध्ययन केन्द्रों की ओर जाने लगे थे । पाणिनी चौथी शताब्दी तथा आत्रेय छठी शताब्दी में क्रमश: व्याकरण व चिकित्सा शास्त्र पढ़ाते थे । भारतीय धातुकर्मियों ने ईसा पूर्व चौथी शताब्दी तक लोहा और इस्पात बनाने की तकनीकी में उच्च कोटि की कुशलता प्राप्त कर ली थी । बर्तनों की बनावट व सजावट से स्पष्टत: होता है कि लोगों को किण्वन के तरीके, रंगाई की तकनीक अनेक रसायनों एवं रगीन द्रवों का निर्माण और उपयोग की विधियाँ भी भलीभांति ज्ञात थी । खुदाई में प्राप्त काँच की वस्तुओं से भान होता है कि काँच के निर्माण का ज्ञान इस युग के अन्तिम चरण में हो गया था ।

इस युग में कृषि की प्रगति के साथ-साथ वनस्पति विज्ञान और प्राथमिक पादम क्रिया विज्ञान में भी प्रगति हुई । इसी प्रकार खगोल विज्ञान, गणित, चिकित्सा विज्ञान मे जो प्रगति हुई, उसका उल्लेख सम्बन्धित अध्यायों में किया गया है ।

24.4.5 भारत में का स्वर्ण युग

इतिहासकारों एवं शास्त्रियों की मान्यता है कि ईसा की चौथी शताब्दी से लेकर ईसा के बाद सातवीं शताब्दी तक भारत में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हुई । यह काल जनपदों के इतिहास से लेकर मौर्य साम्राज्य की विशेषताएँ दर्शाता हुआ गुप्त साम्राज्य के समय तक पहुँच जाता है । इस उन्नति के पीछे वे राजनैतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियाँ थी, जिनका विकास जनपदों के काल में मगध शक्ति के उत्कर्ष से हुआ था और जो शनै: शनै : मौर्य एवं गुप्तकाल में नये ढंग से परिवर्तित एवं गठित हुई थी । उन परिस्थितियों को मुख्य रूप से निम्न प्रकार से समझा जा सकता है ।

प्रथम, सबसे बड़ा परिवर्तन तो राजनैतिक स्तर पर आया । ई. पू छठी शताब्दी के मगध के पश्चात् छोटे-छोटे राज्य-समूहों के स्थान पर शक्तिशाली एवं भौगोलिक दृष्टि से विस्तृत राज्य -समूहों के तथा तत्पश्चात् साम्राज्य की नींव पड़ने लगी । प्राचीन भारत के इतिहास में मौर्य, शुग, सातवाहन एवं गुप्त साम्राज्य की विशालता व उसका गठन अनेक प्रकार की घटनाओं को जन्म देने वाला एक क्रम था । इन साम्राज्यों ने जहाँ एक ओर अधिकारियों एवं कर्मचारियों की संख्या में वृद्धि की वहीं दूसरी ओर राजनैतिक एवं भौगोलिक सुरक्षा के लिये एक विशाल सेना को गठित किया । इस प्रकार उत्पादन से प्रत्यक्ष न जुड़े, बल्कि अतिरिक्त उत्पादन पर आश्रित लोगों का एक समूह एकत्रित हो गया । फलस्वरूप राज्य को नये आर्थिक आधार ढूंढने पड़े । इस दृष्टि से जहाँ एक ओर कृषि क्षेत्र विस्तृत किया व नयी तकनीक से उसका गहन प्रयोग किया गया वहीं दूसरी ओर राज्य के प्राकृतिक साधनों विशेषकर खनिज क्षेत्रों का अधिक दोहन प्रारम्भ हुआ । इस प्रकार की आर्थिक उथल पुथल ने अनेक नये विचारों का सूत्रपात किया । विशेषकर आन्तरिक व बाह्य व्यापार दोनों को प्रोत्साहित किया । इस मध्य शान्ति व सुरक्षा के भाव ने अनेक धार्मिक विश्वासों को स्थापित किया वही दूसरी ओर विभिन्न विचारों के पश्चात् भी एक सांस्कृतिक एकता को जन्म दिया ।

24.4.5.1 मौर्य साम्राज्य में प्रौद्योगिक उन्नति

हमें " अर्थशास्त्र' ' से मौर्यकाल में प्रौद्योगिक क्षेत्र में हुई विभिन्न घटनाओं की पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है । सिविल इंजीनियरी के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति हुई । राज्य अपने अधिकृत जिसे ' 'सीता भूमि " कहा जाता था, में उत्पादन के क्षेत्र में वृद्धि के लिए सिंचाई के अनेक साधन जुटाये। उसी भूमि से भूसी निकालने, तेल निकालने, बिनोला निकालने तथा तत्पश्चात् उनसे प्रभावित सूत को कातने, ऊन को साफ करने, कम्बल बनाने के क्रम मे अनेक उद्योगों का जन्म हुआ ।

प्रौद्योगिक क्षेत्र में सर्वाधिक उन्नति धातु -विज्ञान के क्षेत्र में हुई। संभवत: अशोक के समय पहली बार भवन निर्माण में पत्थरों का प्रयोग प्रारम्भ हुआ ।विशेषकर स्तम्भों व मेहराब के निर्माण में इसका उपयोग किया गया । इससे पूर्व लकड़ी का बहुतायत प्रयोग होता था । यहाँ तक कि लकड़ी के लट्ठे की सड़कें विशेषकर दलदल के क्षेत्र में बनायी जाता थीं । मौर्यों के विशाल महल भी लकड़ी के बने हुये थे । विद्वानों की मान्यता है कि मगध के उत्थान की पृष्ठभूमि में महत्वपूर्ण कारण धातुओं की उपलब्धि होना है । लोहा, तांबा, टिन, सीसा और अन्य धातु प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो जाते थे। अर्थ शास्त्र में अयस्कों के आपचन एवं उन्हें गलाने का विवरण दिया गया है । इस ग्रन्थ में ही विभिन्न अयस्कों के मध्य दिखावट एवं उनके गुणों में अन्तर और फिर उसके अनुसार उनके संसाधन तकनीकों में अन्तर का विस्तार से विवरण दिया गया है । मिश्र धातु इस्पात बनाने के लिये साम्राज्य के विभिन्न भागों से विशेषकर दक्षिण से उत्तम प्रकृति का लौह अयस्क लाया जाता था । बताया जाता है कि इन मिश्र धातुओं से बनी तलवारों को यूनान सहित अन्य देशों में बेचने हेतु निर्माण किया जाता था । अर्थशास्त्र में भी सेना के काम आने वाली उन मशीनों की विस्तार से चर्चा की गयी है तो अपकेन्द्री बलों (Centrifugal forces) के सिद्धान्त पर कार्य करती थीं । वस्तुत: हथियार एवं खेती के उपकरण मौर्य साम्राज्य की ख्याति के दो प्रमुख स्तम्भ थे ।

24.5.2 दक्षिणी भारत में प्रगति

मौर्य के पतन के पश्चात् का जो काल आया वह दक्षिणी भारत में शिल्प एवं वाणिज्य की दृष्टि से सर्वाधिक वैभवशाली समय था । दक्षिणी भारत का उस समय समुद्री मार्ग से एक वृहत स्तर पर व्यापार होता था, जो अपने आप में यह प्रमाणित करता है कि जहाँ भारतीयों को नौकायन व मौसम सम्बन्धी विविध बातों का ज्ञान था वहीं निर्यात के लिये उच्च स्तरीय उत्पादकों का प्रचुर मात्रा में जमाव था । अफ्रीका के बन्दरगाहों से लोहा तथा इस्पात की वस्तुएँ जैसे छुरी, काँटे आदि निर्यात की जाती थी । मलमल, मोती, जवाहरात, हीरे तथा मसाले रोम व पश्चिमी यूरोप के अन्य देशों को भेजे जाते थे ।

तत्कालीन शिलालेखों में बुनकरों, स्वर्णकारों, रंगसाजों, जौहरियों, मूर्तिकारों तथा धातु एवं हाथीदाँत के कारीगरों का विशेष उल्लेख आया है । आंध्र प्रदेश के करीमनगर तथा नालगोंडा जिलों में लौह के औजार एवं सामान जैसे करछी, उस्तरे, कुल्हाड़ियाँ, हंसिये, फावड़े, खेती के फाल, आदि प्राप्त हुए हैं । सातवाहन काल में लोह धातु विज्ञान में ही नहीं बल्कि पीतल जस्ता, ऐटीमनी आदि के धातुकर्म में भी निपुणता प्राप्त कर ली थी । रंगाई उद्योग तमिलनाडु में बहुत विस्तृत था । पहियों द्वारा चलने वाले कोल्हू से तेल निकाले जाने से तेल के उत्पादन में आशातीत वृद्धि हो गयी थी ।

24.4.5.3 : गुप्तकाल में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी

गुप्तकाल में भारत उन्नत साम्राज्य की अवस्था से गुजर रहा था । इस काल में भी कृषि मुख्य उत्पादन का मुख्य साधन था । बल्कि नयी तकनीकों एवं बीजों के कारण कृषि उत्पादन में तेजी आयी। सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि शिल्पकला में गुणवत्ता के साथ-साथ विविधता की दृष्टि से भी काफी प्रगति हुई । इसका मुख्य कारण यह था कि भूमि पर राज्य का स्वामित्व एवं नियन्त्रण काफी सीमा तक कम हो गया था और भूमि लोगों के पास आ गयी । फलस्वरूप किसी व्यक्ति की सामाजिक स्थिति उसकी भू -सम्पति पर भी निर्धारित होने लगी । बल्कि इसे वृहत स्तर पर देखा जाये तो समाज में यह महत्वपूर्ण हो गया कि कौन व्यक्ति किस कर्म से जुड़ा हुआ है । जाति की तुलना में अर्थ को महत्व मिलने से नये प्रयोगों की ओर लोगों की उत्सुक्ता बढ़ी ताकि उत्पादन में वृद्धि, करके आर्थिक हितों को संरक्षित किया जा सके ।

गुप्तकाल की कुछ विशेषताएँ उल्लेखनीय है । प्रथम, उत्पादन के अधिकांश विषयों पर शास्त्रीय अध्ययन हुआ एवं उत्पादकों को उसके अनुसार चलने की सलाह दी गयी । द्वितीय, उत्पादन में गुणवत्ता पर विशेष बल दिया गया । तृतीय, उद्योग कर्मियों एवं शिल्पकारों के हितों के संरक्षण के लिय स्वयं संस्थाएँ बन गयी । संस्थाओं द्वारा प्राप्त आर्थिक सुरक्षा ने उद्योग कर्मियों को अपने क्षेत्र में नये प्रयोग करने के लिये प्रेरित किया ।

(अ) **शिल्पकला -** धातु के क्षेत्र में अनेक नये कीर्तिमान स्थापित किये गये । बिना जंग लगा लोहे का उत्पादन इस काल की विशेषता रही । उसी प्रकार तांबा के मिश्र धातु भी बनाये गये। इन धातुओं से सैनिक हथियार भी खूब बने ।

(ब) **कपड़ा : -** कपड़े में सूती तथा रेशमी बुनाई में तथा कपड़ों की रंगाई में बहुत निखार आ गया। बंगाल व बनारस के वस्त्र अपने भार में हल्के होने तथा तंतु विन्यास के लिये बहुत उचित थे ।

(स) **कृषि : -** कृषि उत्पादन एवं फलों -सब्जियों के लिये इस काल में नियम-पुस्तिकाएँ बनायी गयीं। जैसे प्रत्येक पौधे के लिये मिट्टी की प्रकृति, बुवाई के प्रकार, नये फल व सब्जियों लगाने के उपक्रम, फसलों एवं पोधों में लगी बीमारियों को दूर करने के उपाय आदि पर विस्तृत व्याख्याएँ की गयीं । इसी प्रकार कृषि औजारों पर भी प्रकाश डाला गया। औजारों में लोहे का प्रयोग एक आम बात हो गयी । इस काल में कई नये फल जैसे नाशपती तथा आड़ू की पैदावार प्रथम बार की गयी । भारत मसालों के उत्पादन के क्षेत्र में पहले से ही विख्यात था ।

24.4.5.4 गुप्तकाल के पश्चात् स्थिति

गुप्तकाल और विशेषकर हर्ष के साम्राज्य के पतन के पश्चात् भारत की राजनैतिक एवं प्रशासनिक एकता का अन्त हो गया । टुकड़ों में बंटा भारतीय समाज अशान्ति एवं संघर्ष के दौर से गुजरने लगा । एकमात्र अपवाद दक्षिण भारत का चोल साम्राज्य था, जहाँ तकनीकी और शिल्प एक बार और फलने -फूलने लगे । इसके अतिरिक्त टुकड़ों में बंटा भारत विज्ञान की प्रगति के लिये सामाजिक एवं बौद्धिक आधार प्रदान करने में असमर्थ हो गया । वस्तुत: उत्तरी भारत में यह काल ठहराव एवं पतन का काल था । राजनैतिक विश्रृंखलता ने वाणिज्य एवं व्यापार को भारी नुकसान पहुँचाया। इसके अतिरिक्त पश्चिमी विश्व में रोमन तथा ससेनियन के पतन से भी भारत के व्यापार को धक्का लगा। इस प्रकार व्यापार एवं वाणिज्य में गिरावट तथा राजनैतिक स्थिति में विकेन्द्रीकरण की प्रकृति के कारण गाँवों की आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था का जन्म हुआ जिससे अर्थव्यवस्था तथा इकाई भौतिक प्रगति के आयाम संकुचित हो गये । ऐसी अवस्था में भी कुछ विद्वानों ने जिनमें आर्यभट्ट भास्कर द्वितीय व भास्कर मुख्य हैं, ने गणित व खगोल शास्त्र में उल्लेखनीय काय किये ।

24.5 मध्ययुग में विज्ञान

जहाँ एक ओर प्राचीन भारतीय तथा रोमन संस्कृतियों पतन की ओर अग्रसर थीं, वहीं दूसरी ओर विश्व के अन्य भागों में दूसरी संस्कृतियाँ विकसित हो रहीं थी । विशेषत: इस्लाम के उदय के पश्चात् अरब संस्कृति एवं विज्ञान को वांछनीय प्रोत्साहन मिला था । यद्यपि ग्यारहवीं शताब्दी तक इस्लामी संस्कृति में भी स्थिरता आ गई थी । पर भारत में जब इस्लाम ने प्रवेश किया तो वह उस परिपक्व स्थिति में था कि यहीं समाज व बौद्धिक चिन्तन सभी को प्रभावित कर सके ।

24.5.1 अरबों की विज्ञान को देन: -

स्पेन से भारत तक एक बड़े भू-भाग पर इस्लामी शक्तियों के प्रभाव स्थापित होने से पूर्व एवं पश्चिम के मध्य बड़े पैमाने पर व्यापार तथा सांस्कृतिक आदान- प्रदान का मार्ग प्रशस्त हो गया। जिसके फलस्वरूप इस्पात, कागज, रेशम और चीनी मिट्टी (Porcelain) आदि बनाने की नयी तकनीकों के अविष्कार को प्रोत्साहन मिला । सासनिद राजाओं के प्रोत्साहन के फलस्वरूप फारस शिक्षा तथा विद्वता का नया केन्द्र बनता चला गया ।

अरब विज्ञान ने यूनानी तथा अन्य सभ्यताओं के विज्ञान की परम्पराओं को आगे बढ़ाया । खलीफा अल- मंसूर, हारून अल रशीद, अल मानूब तथा अल मतावाहाकिल ने अपने प्रयत्नों से अनेक यूनानी व अन्य गन्थों का अनुवाद कराया । जहाँ एक ओर अरस्तु और टालमी जैसे यूनानी विद्वानों

के कार्यो का अनुवाद किया गया वहीं दूसरी ओर भारतीय औषधि विज्ञान शल्य चिकित्सा विज्ञान तथा खगोल शास्त्रीय कृतियों का भी अनुवाद किया गया ।

भारत की दशमलव प्रणाली उनके लिये लाभदायक प्रमाणित हुई । अरब हकीमोंएवं धातुकर्मियों ने रसायन क्षेत्र मे अनेक प्रयोग किये । उन्होंने सोडा, फिटकरी (अलम) कसीस (लोह-सल्फेट के रूप में) शोरा (नाइटर) तथा अन्य लवणों का बड़े पैमाने पर उत्पादन किया तथा उन्हें निर्यात भी किया । 11 वीं शताब्दी तक अरबों का विज्ञान के क्षेत्र में बोलबाला रहा ।

24.5.2 अलबेरूनी एवं भारतीय विज्ञान

सुप्रसिद्ध यात्री अलबेरूनी जो कि महमूद गजनी का समकालीन था जब 11 दी शताब्दी के प्रारम्भ में भारत आया तो उसका मुख्य उद्देश्य भारतीय विज्ञान व अन्य शिक्षाओं के बारे में जानकारी प्राप्त करना था । यद्यपि अपने प्रवास काल में उसने यह पाया कि भारतीय विज्ञान एक विशिष्ट वर्ग के बौद्धिक अभ्यास के रूप में ही सीमित रह गया है किन्तु अपने अतीत में उसने उल्लेखनीय प्रगति की थी । अलबेरूनी के मत में भारतीयों का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान गणित की दशमलव प्रणाली से है । पदार्थ के सम्बन्ध में भी भारतीय विचारधारा यूनानी विचारधारा से मेल खाती है । अलबेरूनी ने आर्यभट्ट, वराहमिहिर तथा ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थों का वर्णन किया है । अलबेरूनी के अनुसार भारतीयों ने कन्नौज, थानेश्वर तथा 'श्रीनगर जैसे स्थानों के अक्षांशों की संगणना करने का प्रयास किया है । देशान्तरों की संगणना विभिन्न स्थानों के ग्रहणों के समय के आधार पर की गयी है, जैसाकि टालमी ने सुझाया है । उनका मुख्य शिरोबिन्दु उज्जैन से होकर गुजरता है।

24.5.3 मध्यकाल में विज्ञान की प्रगति: -

1206 ई. दिल्ली सल्तनत की स्थापना के पश्चात् इस्लामी व भारतीय संस्कृतियों के मध्य शनै: शनै: सम्पर्क एवं सामंजस्य के सूत्र विकसित होने लगे ।

24.5.3.1 खगोल तथा भौतिकीय विज्ञान -

मध्ययुगीन शासकों ने अपनी अनेक प्रशासनिक आवश्यकताओं एवं धार्मिक विश्वासी के फलस्वरूप खगोल शास्त्र के क्षेत्र में प्रयोगों को लेकर विशेष रुचि दिखायी । पंचाँग के मामले में उनकी रुचि अत्यधिक थी । वैसे तो हिजरी संवत का अपना महत्व था । लेकिन भू-राजस्व प्रबन्ध व अन्य मामलों को लेकर सूर्य की गति को लेकर भी अनेक पंचाँग प्रचलित किये गये । अकबर ने सौर पद्धति के पंचाँग को अत्यधिक महत्व दिया । समय निर्धारण करने, ग्रहण की तारीखें तय करने व ज्योतिष शास्त्र के अनेक नियम जानने के लिये भी पंचांगों की अत्यन्त आवश्यकता पड़ी । खगोल विज्ञान की आवश्यकता मक्का की दिशा निर्धारित करने के लिये भी पड़ी ताकि मस्जिदों का निर्माण करते समय उन्हें समुचित रूप से उसी सीध में लाया जा सके । फिरोज तुगलक ने एक ऐसी वैधशाला बनायी जिसमें विशेष प्रकार के उपकरण जैसे उन्नतांशमापी (एस्ट्रोलवे) तथा जल घड़ी आदि लगवाये ।

मुगल शासकों को खगोल शास्त्र में पूरी रुचि थी । बाबर की " आत्मकथा " के विवरण से स्पष्ट है कि वह विज्ञान की इस शाखा की जानकारी लेने के लिये सदैव उत्सुक रहता था । हुँमायू ने अपनी सेवा में अनेक खगोल वैज्ञानिकों को नियुक्त किया था और उनकी सहायता से खगोल विज्ञानीय प्रेक्षण करने का प्रयास किया था । इसके प्रमाण हैं कि मुगलकाल में धातु कर्मियों तथा काष्ठकारों को

वित्तीय श्रेणीकरण की पर्याप्त जानकारी थी जिसका प्रभाव प्रत्येक प्रकार के माप (एस्ट्रोलेब के गोलों पर बने क्रमबद्ध माप) पर पड़ा । मुगलकाल के पतन के बाद भी खगोल शास्त्र के क्षेत्र में अवनति नहीं हुई । जयपुर के नरेश सवाई जयसिंह ने उत्तरी भारत में अनेक स्थानों पर वैधशालाएँ बनायी । दिल्ली, जयपुर, मथुरा, बनारस एवं उज्जैन की वैधशालाएँ प्रमुख थीं । महाराजा ने बड़े आकार के प्रेक्षण उपकरण बनवाये जो समय ज्ञात करने तथा अक्षांशों का निर्धारण करने में प्रयोग में लिये जाते थे । इन उपकरणों की सहायता से उन्होंने खगोल विज्ञान सम्बन्धी शुद्ध तालिकाएँ बनायीं ताकि उनसे ग्रहण लगने का सही अनुमान लगाया जा सके । तथा पंचांग में भी सुधार किया जा सके । ऐसा माना जाता है कि जयसिंह ने खगोल संबंधी तालिकाएँ जिनका नाम जिज-ऐ-मुहम्मदशाही' ' था, 11 वीं शताब्दी की जिजी-उलुग बेग नाम की पुस्तक से ग्रहण की थीं । यद्यपि जयसिंह के काल की तालिकाओं में संगणनाएँ और आकड़े उससे भिन्न थे । वस्तुत: खगोल विज्ञान के सिद्धान्तों में टालमी द्वारा की गयी प्रणालियों से आगे कोई विशेष प्रगति नहीं हुई

24.5.3.2 भूगोल

मध्यकाल में भूगोल के ज्ञान में पर्याप्त प्रगति हुई थी । विशेषकर मानचित्र बनाने के कार्य में । वैसे अरब यात्रियों ने भारत के, विशेषकर सिन्धु नदी के आसपास के भाग के कई मानचित्र तैयार किये थे । इस काल में विशेषकर मुगलकाल में यूरोपीय लोगों ने जो भारत को लेकर मानचित्र तैयार किये थे, उनमें उन्होंने क्षेत्रीय भौगोलिक विशेषताओं जैसे पर्वत श्रृंखला आदि को भी प्रतीकात्मक रूप में दिखाया । जैसे पर्वत शृंखला को लहरदार लाइनों से तथा समुद्रों एवं नदियों को नीले अथवा दूसरे रंगों से दिखाया । 1647 ई. में सादिक इस्फानी ने विश्वकोष ग्रन्थ लिखा जिसमें विश्व मानचित्रावली भी थी । उनके द्वारा दिखाये गये मानचित्र भारत को प्रायद्वीप के रूप में दिखाने तथा श्रीलंका को दक्षिणी छोर के रूप में जोड़ने के काम काफी स्पष्ट व सही थे । भारत नदियों का देश है परन्तु गंगा व यमुना जैसी नदियाँ ही प्राय: दिखायी गयी थीं । अकबर के काल तक भारत को नये विश्व (अमेरिका) की खोज का पता चल चुका था ।

फिरोज तुगलक एक जिज्ञासु व्यक्ति था । उसके काल मे उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश में अनेक भौगोलिक व वातावरणीय परिवर्तन आ गये थे । उत्तरी-पश्चिमी भारत की अनेक नदियों ने अपना मार्ग बदल दिया था और वे अपने मूल मार्ग से पश्चिम दिशा की ओर खिसक गयी थीं । जिसके फलस्वरूप इन नदियों के पूर्वी भाग में शुष्कता का प्रभाव बढ़ गया था और रेगिस्तानीकरण की प्रक्रिया तेजी से बढ़ने लगी थी। सुल्तान ने स्थिति की गम्भीरता समझते हुए सबसे पहले सतलज नदी को पूर्व मार्ग पर लाने का यत्न किया और सिरमोर प्रदेश में आयी बाधाओं को हटाने का प्रयत्न किया । लेकिन उस समय की तकनीकी उस भागीरथ कार्य को करने में सक्षम नहीं थी । फलस्वरूप सुल्तान निराश हो गया । तब उसने सतलज व रावी से अनेक नहरों को निकालकर शुष्क हुए प्रदेशों मे पानी लाने का यत्न किया। उसके ये प्रयत्न सफल रहे।

24.5.3.3 रसासयन शास्त्र

राजस्थान के जावर नामक स्थल पर पुरातत्व की खुदाई से प्रमाणित होता है कि भारतीयों को लगभग प्रथम शताब्दी से ही जस्ते को विलगाने का उपाय विदित था । जब कि धातु शास्त्र के शोध में अगुआ चीन को भी यह शिक्षा नवीं शताब्दी से मिली । मध्यकाल में तांबे व जस्ते के मिश्रण

से पीतल का प्रचुर मात्रा में निर्माण किया जाता था । उस पीतल पर टिन के लेपन की विधि सम्भवतः: अरबों ने भारत को दी थी । मध्यकाल में तांबे के बर्तनों का उपयोग प्रचुर मात्रा में था । टंकाई (soldering) विशेषकर अकीक (Agate) क्रिस्टल तथा मुर मुरे पदार्थो पर सोने की टंकाई का कार्य बहुत ही कुशलता से किया जाता था । अकबर के काल में पानी को जमाने के लिये शोरा (पोटेशियम नाइट्रेट) का प्रयोग, होने लग गया था जब कि यूरोप में यह पद्धति बाद में आयी ।

24.5.3.4 प्रौद्योगिक नवीनताएँ तथा आविष्कार

मध्ययुगीन भारत में प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में बहुत सुधार हुआ । उनमें से कुछ निम्न प्रकार से हैं : -

(अ) **गिअरन:** यह एक ऐसा यन्त्र है जो क्षैतिज गति (Horizontal Motion) को ऊर्ध्व गति (Vertical Motion) में और ऊर्ध्व गति को क्षैतिज गति में परिवर्तित कर देता है । यह गति को ग्रन्थ व तेज भी करता है । मध्ययुग में समानान्तर चूड़ी कसने की क्रिया का प्रयोग लकड़ी की कपास ओटनी में किया जाता था । यह चीनी को लकड़ी के रोलरों से पीसने के काम में ली जाती थी ।

रहट के साथ ही समकोणीय पिन ड्रम गिअरन आयी । यद्यपि भारत के पास पानी ऊपर खींचने की कई पद्धतियाँ थी जैसी कि चरखी (ढ़ेकली) तथा माला (पाट-चेन) युक्त रहट (अरधट्टा) परन्तु अरबों के सम्पर्क से अरधट्टा के साथ- साथ पिन ड्रम गिअरन के अनुप्रयोग से वह रहट के नाम से पहचाने जाने वाले यन्त्र के रूप में परिवर्तित हो जाता था । इसमें पशुओं को जीतकर गहरे स्तर से पानी को निरन्तर ऊपर उठाया जा सकता था। इसमें गिअर चक्र और शाफ्ट (धुरा) लकड़ी के बने होते थे । पशुओं द्वारा एक समतल पिन-ड्रम को एक ऊर्ध्वाधर पिन चक्र के साथ मिलाकर गोलाकार तरीके से उसे घुमाया जाता था । पन्द्रहवीं शताब्दी तक उत्तरी-पश्चिमी भारत में इस रहट का प्रयोग व्यापक रूप से होने लगा था । फलस्वरूप सिंचाई के साधनों में उन्नति होने से कृषि उत्पादन भी अनुकूल ढंग से प्रभावित हुआ ।

(आ) **पट्टे द्वारा संचालन: -** भारत में पट्टे के संचालन की विधि चरखे के रूप में आयी । चरखे में पट्टे के उपयोग से उसकी गति नियंत्रित हो गयी है व काफी बढ़ गयी । फलस्वरूप कताई का उत्पादन बहुत बढ़ गया। सत्रहवीं शताब्दी में चर्खे में कैंक हैण्ड लगाकर उसमें और सुधार किया गया। हीरे को काटने में भी चरखे के पट्टे का प्रयोग होने लगा ।

(इ) **बुनाई : -** मध्यकाल में करघों में ट्रेडलों (पैरों द्वारा संचालित युक्तियों) के लग जाने से बुनकर अपने पैसे का उपयोग हैण्डलों को बारी-बारी से उठाने में करने लगा । फलस्वरूप उसके हाथ स्वतन्त्र हो गये और वह शटलों को आगे -पीछे फेंकने लगा जिससे बुनाई की ' गति दुगनी हो गयी । मुगलकाल में कपड़े के रंगों को बींधने वाले रंग स्थापक (मॉर्डन्ट) तथा रंगों को निर्धारित करने वाले डिजायन या पैटर्न के अनुसार सीमित रखने के लिए प्रतिरोध (रेजिस्ट) का भी प्रयोग प्रचुर मात्रा में होने लगा । इसी काल में ब्लॉक-मुद्रण की कला भी प्रारम्भ हो गयी । इससे मुद्रण में समय की काफी बचत हो गयी ।

(ई) **कागज -** भारत में कागज का प्रयोग संभवत: मध्यकाल के प्रारम्भ से ही होने लगा था । जबकि चीन में यह आविष्कार प्रथम शताब्दी में हो गया था । परन्तु भारत में इसके आने के पश्चात् इसका निर्माण बहुत तेजी से आगे बढ़ा । मुगलों के काल में उनके प्रशासन में कागज का प्रचलन इतना अधिक बढ़ा कि जदुनाथ सरकार ने उसे पेपर गर्वमेन्ट का नाम भी दे दिया ।

(उ) **आसवन -** नीधम एवं अल्विन की यह मान्यता है कि शराब निकालने की पद्धति प्राचीन भारत में विद्यमान थी । सम्भवतः: वह बहुत अधिक विकसित स्थिति में न हो । परन्तु मध्यकाल में प्रारम्भ से ही इसके विकास पर पूर्ण ध्यान दिया जाने लगा था । शराब के साथ- साथ गुलाब जल जुटाने की पद्धति भी विकसित हुई । विशुद्ध(आसविक) स्पिरिट बनाने की कलाओं में उल्लेखनीय प्रगति मध्ययुग की विशेषता है ।

(ऊ) **धातु के पेच या स्क्रू:** धातु के टुकड़ों को परस्पर जोड़ने के लिये इसका प्रयोग यूरोप व भारत में पन्द्रहवीं शताब्दी से होने लगा था । भारत में इसका अधिक प्रचलन सत्रहवीं शताब्दी से होने लगा था । परन्तु गुणात्मक दृष्टि से भारतीय पेच यूरोपीय पेच से हल्का था । वास्तविक समस्या लेथ मशीनों का न होना था और उस अभाव में खांचे नहीं काटे जा सकते थे । इसलिये होता यह था कि कीलों के चारों ओर तारों को काट दिया जाता था, जिससे खांचों का आभास होता था । अपनी इस सीमा के कारण भारतीय पेच ठीक से फिट नहीं बैठता था ।

24.5.3.5 सैन्य प्रौद्योगिकी:-

भारत के सैन्य इतिहास में यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य रहा है कि घोड़े के प्रयोग ने लड़ाइयों के भाग्य को निर्धारित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है । सम्भवतः चौहानों के काल तक उत्तरी भारत में घुड़ सवारों के लिये रस्सी तथा लकड़ी के रकाबों की जानकारी थी । संभवत: लोहे की रकाबों की शुरुआत गौर व गजनी के शासकों दारा ही भारत में की गयी थी । घोड़े के खुरों में नाल लगाने की प्रथा भी हो सकता है इसी युग से प्रारम्भ हुई हो । तुर्क लोग अपने साथ आड़ी कमाने (धनुष) भी लाये । इसमें धनुष के समकोण पर एक अतिरिक्त नली भी होती थी जिसमें तीर फिट किये जाते थे। इस नली से तीर का निशाना अधिक सही दिशा में फेंका जा सकता था । संभवत: यही नली ही आगे चलकर बन्दूक की नाल बनाने में सहायक सिद्ध हुई हो ।

वैसे तोप व बारूद का ज्ञान भारत को मुगलों के आने से पहले ही हो चुका था पर वे उसके प्रयोग के बारे में सम्भवतः: आश्वस्त नहीं थे । लेकिन बाबर ने पानीपत व खानवा के युद्ध में तोप व बारूद के प्रयोग से भारत में मुगल साम्राज्य की नींव डाल दी । आइने अकबरी से विदित होता है कि अकबर ने हल्की तोपों व बन्दूकों को सुधारने पर पर्याप्त ध्यान दिया जैसे तोड़दार बन्दूकों में सुधार लाने के लिये बन्दूक की नाल को सुदृढ़ बनाने के कार्य किये गये । फलस्वरूप लोहे की पतली चादरों को बेलनाकार रोल में बदला गया व उसके किनारों को वैल्ड किया गया । अकबर के काल में बहको के पहियेदार ताले भी लगाये गये । इस मध्य मुगलों ने भारी तोपों के निर्माण में काफी प्रगति की । उनकी मारक क्षमता काफी प्रभावशाली थी । लेकिन उन्हें इधर उधर ले जाना कठिन था । यही कारण है कि मुगल शाहजहाँ के काल में कन्धार अभियान में सफलता नहीं पा सके और औरंगजेब के काल में मराठा अभियानों में हताशा रहे ।

भारतीय सेना में एक और महत्वपूर्ण यन्त्र का प्रयोग होता था । उसे बाण या रॉकेट कहते थे । यह बीस का बना होता था, जिसमें लोहे के सिलेण्डर लगे होते थे । इन गोलाकार सिलेण्डरों के सिरों पर ज्वलनशील सामग्री होती थी । ऐसा माना जाता है कि यही वह भारतीय रॉकेट था, जिससे प्रेरित होकर 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ' 'कांग्रीव ' ने रॉकेट का आविष्कार किया था ।

(आ) **जहाज निर्माण :-** भारत में पोत निर्माण का इतिहास पुराना है । लेकिन 16वीं शताब्दी के पश्चात यूरोप में पोत निर्माण के उपकरणों को लेकर जो अनुसंधान हुए उससे भारतीय जहाज अपनी क्षमता

में बहुत पिछड़ गये । अपनी भारी भरकम सूरत के कारण कबाड़ कहलाने लगे । यूरोपीय पोत बहुत हलके होते थे। यद्यपि यह रुचिकर तथ्य है कि उन्होंने भारतीयों से पोत को मजबूत बनाने के लिये एक तख्ते स दूसरे तख्ते को जकड़कर कसने की पद्धति तथा तख्तों पर चुने के मिश्रण का हाथ फेरने से जहाज को समुद्री कीड़ों से बचाने की विधि सीखी। लेकिन यूरोपीय दूरबीनों क्वाड्रेटों तथा अन्य इसी प्रकार के उपकरणों के उपयोग से यूरोपीय जहाज भारतीय समुद्रों मे देशी पोतो से आगे निकाल गए ।

24.5.3.6 मध्ययुग में विज्ञान के क्षेत्र में प्रगति स्थिर होने के कारण: -

विश्व में जो असाधारण और उल्लेखनीय प्रगति हुई उन पर भी ध्यान नहीं गया । जैसे कि कोपनिकस की सौर प्रणाली का नमूना, गैलीलियों के कार्य (1610 ई.) गुरुत्वाकर्षण पर न्यूटन की महान खोज अथवा विलियम हार्वे द्वारा रुधिर संचरण को खोज तथा छापेखाने का आविष्कार जिसके परिणाम स्वरूप ज्ञान का भंडार अधिकाधिक व्यक्तियों तक पहुँच सका । मुगलों के काल में आये विदेशी यात्री मनूची (इटालीयन) ने यह बताया है कि भारतीय अन्धविश्वासों में जकड़े हुए हैं । यह तथ्य और भी रुचिकर है कि यूरोप में अरब लेखकों की अनेक पुस्तकों को पाठ्य पुस्तकों के रूप में पढ़ाया जाता था। ये पुस्तकें भारत में भी उपलब्ध थीं । लेकिन, उन्हें पढ़ाया नहीं जाता था । हमारी यह लापरवाही हमारे लिये कष्टदायक सिद्ध हुई । संक्षेप में कहा जा सकता है कि एक परम्परावादी वर्ग विभाजित समाज विज्ञान में क्रान्ति जैसी बात उत्पन्न नहीं कर सकता था । सम्भवतः 16 वीं शताब्दी तक भारत के विज्ञान का स्तर वहीं था जो विश्व के अनेक देशों का था । किन्तु उसके पश्चात् यूरोपीय विज्ञान ने अपने विकास का क्रम जारी रखा वहीं भारत अपनी यथा स्थिति पर रहने के कारण क्रमश: पिछड़ता चला गया । समाजशास्त्री यह सुझाव देते हैं कि यूरोपीय समाज व भारतीय समाज में उन्नति एवं अवनति के पीछे दानों समाजों में मूल अन्तर इसके सामाजिक ढांचे, धार्मिक कट्टरता ओर बौद्धिक वातावरण में है । भारतीय समाज विभिन्न संस्कृतियों के मध्य सहिष्णुता व सह अस्तिव की नीति पर तो चल रहा था, लेकिन किसी सुधार के मार्ग को नहीं अपनाना चाहता था । फिर अगर कोई सुधारों को लागू भी करना चाहता था, तो उसे व्यापक समर्थन नहीं मिल पाता था । यूरोप में छपी सामग्री होने के कारण सुधारवादी विचारों को प्रसारित होने में व्यापक समर्थन मिला । जब कि भारत में शिक्षा भी धार्मिक अध्ययन तक अधिक सीमित थी । फलस्वरूप बौद्धिक वातावरण प्रचलित शिक्षाओं को चुनौती देने तथा नये सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने के पक्ष में नहीं था । विशेषकर उन विचारों को स्वीकार करना तो और भी कठिन था जिसमें प्रचारित धार्मिक विश्वासों के विरुद्ध कोई बात हो ।

24.6 औपनिवेशिक भारत में विज्ञान

औरंगजेब के शासन काल से ही मुगलों का पतन प्रारम्भ हो गया था । 1707 ई. में उसकी मृत्यु के पश्चात् यह प्रवाह तेजी से चल पड़ा । औरंगजेब के काल से ही मुगल साम्राज्यवादी शान यूरोपीय शक्तियों को जो व्यापार के उद्देश्य से भारत के समुद्री तटों पर आ गयी थी और अपनी शर्तों पर भारत मे व्यापार करना चाहती थी, नियन्त्रण में नहीं ला सकी थी । यह निर्धारित हो गया था कि मुगल शक्ति समुद्र की लहरों को छू नहीं सकती है । 18 वीं शताब्दी में शनै: शनै: यूरोपीय नाविक शक्तियों ने भारतीय क्षमताओं की पोल खोल दी और समुद्री तटों पर अधिकार करते हुए वे हमारे आन्तरिक क्षेत्रों में दखल देने लगे । 19वीं शताब्दी के मध्य तक सम्पूर्ण भारतीय उप महाद्वीप उनके अधिकार

में था । इस दिशा में ब्रिटेन ही अन्य यूरोपीय शक्तियों से आगे निकला, यह एक दूसरी कहानी है । परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि तुलनात्मक रूप से उच्च तकनीकी से विकसित ब्रिटिश बेड़ा विश्व में साम्राज्य स्थापित करने में सफल हुआ । अर्थात् प्रौद्योगिकी तत्व ने राजनीति में निर्णायक रूप से हस्तक्षेप किया।

24.6.1 ईस्ट इण्डिया कम्पनी का भारत में विज्ञान के प्रति दृष्टिकोण

वस्तुत: यूरोप में आयी नयी औद्योगिक क्रांति ने विज्ञान एवं तकनीकी की एक नयी संस्कृति को जन्म दिया जिसका ' परिचय भारत को विशेष नहीं था । फिर नये औद्योगिक राष्ट्रों की आर्थिक मांगों ने जिस प्रसिद्ध उपनिवेशवाद को जन्म दिया भारत उस प्रतिस्पर्द्धा के लिये भी तैयार नही था। बल्कि सैन्य क्षेत्र में आयी तकनीकी शोध के सम्मुख भारत अन्ततः विवश हो गया था व उपनिवेशवाद का ग्रास बन गया था ।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी जो कि भारत की नयी राजनैतिक आधिपत्य की शक्ति बनी को शीघ्र ही यह समझ मे आ गया कि उनके शासन का भौतिक आधार विजित क्षेत्रों की भौगोलिक, भू- वैज्ञानिक तथा वनस्पति ज्ञान पर निर्भर है । अत: अपनी सीमाओं को समझते हुए ब्रिटिश प्रशासकों एवं वैज्ञानिकों ने वनस्पति, भू-विज्ञान और भौगोलिक सर्वेक्षण पर धन लगाया । उन्होनें की उन शाखाओं को, जिससे भारत की औद्योगिक प्रगति हो सकती थी, जैसे भौतिक और रसायन शास्त्र पर कम ध्यान दिया । उन्हें तो भारत को उसके प्राकृतिक साधनों को दोहने का तथा अपने औद्योगिक माल की पूर्ति का घर बनाना था फिर भी कुछ वैज्ञानिक संस्थाओं और संग्रहालयों की स्थापना एक सकारात्मक कार्य था । कलकत्ता के जज सर विलियम जोन्स ने नगर के अन्य बुद्धिजीवियों के साथ मिलकर 1784 ई. में एशियाटिक सोसायटी की स्थापना की । इसके पश्चात् एग्रीकल्चरल- हार्टिकल्चरल सोसायटी ऑफ इण्डिया (1817), मद्रास लिटरेरी एण्ड सांइटिफिक सोसायटी (1818), कलकत्ता मेडिकल एण्ड फिजिकल सोसायटी (1823) तथा बम्बई में 1829 ई. में रायल एशियाटिक सोसाइटी की शाखा की स्थापना हुई। इन संस्थाओं की गतिविधियों एवं इनकी पत्रिकाओं के माध्यम से भारत में एक नया वैज्ञानिक वातावरण बनने लगा ।

24.6.2 ब्रिटिश सरकार की नीतियाँ

24.6.2.1 प्रारम्भिक प्रयास -

1858 ई. में जब ब्रिटेन की सरकार ने विधिवत रूप से भारत का प्रशासन संभाला तब यहीं व्यक्तिगत प्रयासों के स्थान पर संगठनात्मक स्तर पर कुछ प्रयास प्रारम्भ हुए । 1878 ई. में तीन सर्वेक्षण शाखाओं - त्रिकोणमितीय, स्थलाकृतीय तथा राजस्व शाखाओं का परस्पर विलय कर दिया गया। 1851 ई. में स्थापित जियोलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया को भी नये ढंग से सुसज्जित किया गया ताकि उसकी उपयोगिता बढ़ सके । विभिन्न विभागों एवं संस्थानों की स्थापना और विकास से एक भिन्न प्रकार के संवर्ग की आवश्यकता उत्पन्न हुई । वैसे कुछ ऐसे संवर्ग पहले से भी चले आ रहे थे । परन्तु उनके उद्देश्य सीमित थे । अब व्यापक बना दिये गये । जैसे इण्डियन मेडिकल सर्विस जिसकी स्थापना सेना की सेवा के लिये की गयी थी, उसे व्यापक अर्थों में लिया जाने लगा । कृषि क्षेत्र कृषि सोसाइटियों के हाथों मे था । उसे 1906 ई. में भारतीय कृषि सेवा में गठित कर दिया गया । परन्तु इन सब प्रकार

के प्रयासों के बाद भी ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकतर प्रयोगों के उद्देश्य शोध को आगे बढ़ाने के लिए नहीं थे बल्कि सरकारी हितों को साधने के लिए अधिक थे ।

24.6.2.2 शिक्षा:

अंग्रेजों ने शिक्षा योजना में विज्ञान को कभी भी उच्च प्राथमिकता नहीं दी । 1813 ई. के घोषणा में इस प्रकार के उद्देश्य की बात अवश्य कही थी । परन्तु, उसको साधने के प्रयत्न कभी नहीं किये गये थे । मैकाले की शिक्षा पद्धति साहित्यिक विषयों पर अधिक केन्द्रित थी । 1875 ई. में कही जाकर मद्रास विश्वविद्यालय ने मैट्रिक के अपने विद्यार्थियों को ब्रिटिश इतिहास के स्थान पर भूगोल एवं प्रारम्भिक भौतिकी को देने का निर्णय लिया । वैसे विज्ञान में स्नातक की उपाधि देने वाला पहला विश्वविद्यालय मुंबई का था । कलकत्ता विश्वविद्यालय ने भी अपने पाठ्यक्रमों को बांटकर विज्ञान का एक समूह बनाया । इन परिवर्तनों के पश्चात् भी दो बातें मूल रूप से थीं कि ब्रिटिश शिक्षा का उद्देश्य हमारे मानसिक विकास की और नहीं था तथा दूसरे उनकी शिक्षा में यूरोपीय सभ्यताओं की उच्चता का ही दर्शन था । इस काल में कठिन परिस्थितियों एवं सरकार की उपेक्षापूर्ण नीति के होते हुए भी अनेक भौतिक अनुसन्धान के कार्य सम्पन्न हुए । जिसमें ब्रिटिश व भारतीय दोनों नागरिक सम्मिलित थे । रोनाल्ड रास ने मलेरिया, मैकनमारा ने हैजा, हैफीकन्स ने प्लेग और रोजर्स ने कालाजार पर शोध कार्य किया। उधर भारतीयों में गंगाधर शास्त्री व हरि केशवजी पठारे (बम्बई), मास्टर रामचन्द्र (दिल्ली), शुभाजी बापू व औंकार भट्ट जोशी (मध्य प्रदेश) एवं अक्षय दत (कलकत्ता) ने भारतीय भाषाओं के माध्यम से आधुनिक विज्ञान को लोकप्रिय बनाने के यत्न किये भारतीयों के स्तर पर कई संगठनात्मक प्रयास भी चलते रहै । 1864 ई. में सर सैयद खां ने अलीगढ़ सांइटिफिक सोसाइटी की स्थापना की तथा औद्योगिक और कृषि-उत्पादन मे औद्योगिकी का प्रयोग प्रारम्भ करने का आह्वान किया । 1868 ई. में सैयद इमदाद अली ने बिहार सांइटिफिक सोसायटी की स्थापना की । इसी प्रकार 1876 ई. में एम. एल. सरकार ने "सोसायटी फार दी कल्टीवेशन ऑफ साइमन' ' की स्थापना की जो बिना सरकारी अनुदान के सफलतापूर्वक चलायी गयी । सरकार की यही संस्था ध्वनि विज्ञान, प्रकाश विज्ञान, प्रकाश प्रकर्ण व चुम्बकत्व आदि से सम्बन्धित अनुसंधान कार्य के लिये महत्वपूर्ण केन्द्र बन गयी । बम्बई में जमशेदजी टाटा ने भी उच्चतर वैज्ञानिक शिक्षा और अनुसन्धान की योजनाओं को 1909 ई. में 'इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ साइन्स" की स्थापना करके मूर्तरूप दिया । 1904 में "एसोसिएशन ऑफ दी एडवांसमेण्ट ऑफ सांइटिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल एजुकेशन ऑफ इण्डियन्स" की स्थापना की गयी। जिसका उद्देश्य भारतीयों को विदेश में प्रशिक्षण के लिये भेजना था

24.6.3 बीसवीं शताब्दी में प्रयत्न

वैसे भी बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ होने के पश्चात् भारतीय अंग्रेजों के राजनैतिक एवं आर्थिक दासता की मुक्ति से उन्मुक्त होने के अनेक उपाय ढूंढने लगे थे । इस दिशा में भारतीयों द्वारा अपनायी गयी नयी वैज्ञानिक सोच भी इसके लिये उत्तरदायी थी । विशेषकर स्वदेशी आन्दोलन में शिक्षा के प्रसार ने महत्वपूर्ण भूमिका सम्पन्न की थी। इसी प्रकार ' 'ओरियण्टलेजिम' ' की उच्चता की भावना ने जिन पुनरुत्थान की प्रवृत्तियों को उकसाया उसके फलस्वरूप भी प्राचीन भारत की वैज्ञानिक प्रगति से प्रेरणा ली गयी । अपनी सांस्कृतिक विरासत की खोज ने भू-वैज्ञानिक पी.एन.बोस को,' ' ए हिस्ट्री

ऑफ हिन्दू सिविलाइजेशन'' लिखने को प्रेरित किया । जगदीश चन्द बोर ने जो यन्त्र बनाये, उन्हें संस्कृत में नाम दिये । रमेन्द्र सुन्दर त्रिवेणी ने डार्विन के सिद्धान्त को गीता के सार में ढूंढा । बी. के. सरकार ने ''हिन्दू एचिवमेंट इन एक्जेट साइन्स' ' पर लिखा । अर्थात् अपनी प्राचीन सांस्कृतिक सीमाओं में विज्ञान को परिभाषित करने का यत्न किया ।

24.6.3.1 विश्व स्तर पर भारतीय अनुसंधान

बीसवीं शताब्दी में कुछ ऐसे भारतीय वैज्ञानिक उभरकर सामने आ गये थे जिन्होंने अपने देश को विश्व के मानचित्र पर अंकित किया । इससे पूर्व कि हम उन चरित्रों का वर्णन करें एक और गतिविधि जिसने विज्ञान में शिक्षण व अनुसंधान की प्रगति को बढ़ाकर ऐसे चरित्रों को उभारने में सहायता दी, का उल्लेख करना आवश्यक है । सर आशुतोष मुखर्जी ने 1904 के विश्वविद्यालय अधिनियम का लाभ उठाते हुए कलकत्ता में 'यूनीवर्सिटी कॉलेज ऑफ साइन्स'' की स्थापना की । पी.सी.रे., सी.वी.रमन, एन. एन. बोस और के. एस. कृष्णन जैसे विख्यात वैज्ञानिक वहाँ पढ़ते थे । इस कॉलेज ने भौतिकी विदों और रसायन विज्ञानियों का एक ऐसा दल बनाया जिन्हें अपनी उपलब्धियों पर अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त हुई । सी. वी. रमन ने प्रकाश-प्रकीर्णन (Scattering of Light) पर अनुसंधान किया जिसके फलस्वरूप 1930 में उन्हें नोबल पुरस्कार प्राप्त हुआ । के. एस. कृष्णन् ने धातुओं के विद्युत प्रतिरोध पर सैद्धान्तिक कार्य किया । मूल कणों के अध्ययन में एस. एन. बोस द्वारा आइन्स्टीन से सहयोग के फलस्वरूप उस विषय का जन्म हुआ जिसे बोस-आइन्स्टीन सांख्यिकी कहते हैं । जगदीश चन्द्र बोस ने यह सिद्ध किया कि वनस्पति एवं जन्तुओं में उष्मा जैसे भिन्न भिन्न प्रकार के उद्दीपनों से विद्युत अनुक्रियाएँ होती हैं । इसी प्रकार एम. रामानुजम व पी. सी. रे ने क्रमश: गणित व खनिज-रसायन में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का उल्लेखनीय कार्य किया । डी. एन. वाडिया ने भू विज्ञान, बीरबल साहनी ने पुरावनस्पति पी.सी. महालनोबिस ने सांख्यिकी और शान्ति स्वरूप भटनागर ने रसायन शास्त्र के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया । इन महानुभावों ने अपने अपने योगदानों के अतिरिक्त अनुसन्धान के क्षेत्र में संस्था निर्माण के कार्य भी किये । उदाहरण के लिये ''दी बोस इंस्टीट्यूट (1917), शीलाधर इंस्टीस्यूट ऑफ सोशल साइंस (1936 ई.) (1936 ई.) बीरबल साहनी इंस्टीट्यूट आफ पोलियो बाटनी तथा पी. सी. रे द्वारा' ' बंगाल केमिकल एण्ड फार्मास्यूटिकल वर्क्स'' नामक अग्रणी व दिशा निर्धारक संगठन बनाये गये ।

24.6.3.2 प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् के चरण

इन सब गतिविधियों का सामूहिक परिणाम यह निकला कि वैज्ञानिक यह समझाने लगे कि अब एक ऐसी संस्था होनी चाहिये जो विज्ञान की सभी शाखाओं के मध्य परस्पर समन्वय स्थापित कर सके तथा उसे उचित दिशा निर्देश प्रदान कर सके । साथ ही परस्पर विचार विमर्श को बढ़ावा देते हुए विज्ञान के प्रति अधिक जागरूकता उत्पन्न कर सकें । इसी भावना से 1914 ई. में ' 'इण्डियन साइन्स कांग्रेस एसोसिएशन' ' की स्थापना की गयी । इसके अतिरिक्त प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् दो और कारणों ने भी विज्ञान की प्रगति में सहायता दी । प्रथम ब्रिटिश सरकार को यह लगने लगा कि भारत को वैज्ञानिक एवं औद्योगिक दृष्टि से अधिक आत्म निर्भर होना चाहिए ताकि उसका ब्रिटेन पर

कम आश्रय रहे । द्वितीय गांधी जी एवं कांग्रेस के आर्थिक कार्यक्रमों ने विज्ञान की नयी भूमिका भी परिभाषित कर दी थी, जिसके फलस्वरूप वैज्ञानिकों को यह सोचने के लिये विवश कर दिया था कि विज्ञान व आर्थिक विकास के मध्य परस्पर सम्बन्धों को निर्धारित करने के लिये किस प्रकार की नीति अपनायी जाये । पी. सी. ३ तथा उनके सहयोगियों की यह धारणा थी कि विज्ञान के विकास के लिये प्राथमिक शिक्षा पर ध्यान दिया जाये तथा साथ ही परम्परागत उद्योगों के महत्त्व को भी समझा जाये। इन लोगों की यह धारणा गांधीजी की कुटीर कन्धों को विकसित करने की योजना से मेल खाती थी। परन्तु इसके विपरीत एम. एन. साहा और उनके ' 'विज्ञान एवं संस्कृति' ' ग्रुप की धारणा थी कि बड़े उद्योगों की स्थापना से ही देश में आर्थिक प्रगति सम्भव है । वास्तव में वे रूस की समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत भारी उद्योगों की स्थापना से भी प्रभावित थे । डा. साहा के प्रयत्नों से ही सुभाष चन्द्र बोस ने कांग्रेस कार्य सूची में राष्ट्रीय आयोजन और औद्योगिकरण को प्राथमिक्ता के तौर पर रखा। 1938 ई. में जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में राष्ट्रीय आयोजन समिति का गठन किया गया । जिसमें तकनीकी शिक्षा उप समिति भी डा. साहा के नेतृत्व में बनायी गयी । उस समिति में जे. सी. घोष, बीरबल साहनी, शांतिस्वरूप भटनागर जैसे वैज्ञानिक भी सम्मिलित किये गये ।

द्वितीय विश्व युद्ध (1939-45 ई.) ने ब्रिटिश सरकार को इस बात पर विवश कर दिया कि भारत की औद्योगिक क्षमता को और अधिक बढ़ाया जाये । अत: 1942 ई. में ' 'वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान परिषद' ' की स्थापना हुई । विश्वयुद्ध के पश्चात् युद्धोत्तर पुनर्निमाण की योजनाओं को बनाने के लिये रायल सोसाइटी के प्रधान ए.बी. हिल को आमन्त्रित किया गया और उन्होंने भारतीय वैज्ञानिकों से भी मंत्रणा करके 1944 ई. में एक रिपोर्ट तैयार की । जिसमें उन बातों को स्पष्ट किया गया कि भारतीय अनुसन्धान के मार्ग में किस प्रकार की बाधाएँ हैं । वैसे मुख्य बाधा तो साम्राज्यवादियों के उस दृष्टिकोण में रही है जो भारत में तकनीकी संस्थाओं की स्थापना को एक महंगा सौदा मानते रहे हैं । वे यह भी मानते थे कि उसके लाभ अन्य उपनिवेशों को हस्तान्तरण करना भी सहज नहीं है । परन्तु साथ में उनका यह मन्तव्य भी है कि यह आलोचना व्यर्थ है कि अंग्रेजों ने भारत में व्यावहारिक विज्ञान की शाखाओं को विकसित नहीं किया जब कि उसकी तुलना में सत्य है कि वन सम्पदा, मत्स्य एवं कृषि में बहुत शोध कार्य हुए हैं एवं उसज्ञान को श्रीलंका, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया एवं कैरिबियन द्वीप समूहों तक भी हस्तान्तरित किया गया है । यद्यपि इस प्रकार का आदान-प्रदान साम्राज्यों को जोड़ने में सहायक नहीं हुआ है । क्योंकि प्रत्येक उपनिवेश की अपनी- अपनी सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि है । इसके साथ वे यह भी मानते हैं कि विज्ञान की प्रगति ने दक्षिणी एशिया में ऐसी बनानी प्रारम्भ कर दी है जिसके फलस्वरूप साम्राज्यवादी शक्तियों का वहां बने रहना असम्भव है ।

24.7 स्वातन्त्र्योत्तर भारत में विज्ञान एवं तकनीकी

1947 ई. में भारत को मिली स्वतन्त्रता विज्ञान एवं तकनीकी के विकास की दृष्टि से इस कारण महत्वपूर्ण है कि अब वह अपने विकास के लिये अपने मनोवांछित ढांचे को अपना सकता है। अतः स्वतंत्र भारत ने अपने विकास के लिये अन्य राष्ट्रों के अपनाये गये " माडलों " की ओर ध्यान से देखा । चूँकि भारत ने अपने आर्थिक विकास के लिये मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपना लिया था, अत: वे विज्ञान एवं तकनीकी में भी सभी राष्ट्रों के प्रयोगों के महत्व को समझना चाहते थे ।

24.7.1 उद्देश्य

नये भारत के शासकों ने विज्ञान के महत्व को सामाजिक संदर्भों में भी देखना चाहा । उन्होंने एक वैज्ञानिक समाज की कल्पना की जिसके बल पर आर्थिक उन्नति के उद्देश्य ढाले जा सकें । इस प्रकार विज्ञान एक 'सामाजिक दर्शन" के रूप में खड़ा किया गया । यद्यपि यह एक जटिल समस्या थी कि किस प्रकार विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी समाज के समृद्ध वर्ग की महत्वाकांक्षाओं को राष्ट्रहित में सवार सकें तथा साथ ही गरीब वर्गो की जीवन पद्धति में सामुहिक व निजी स्तर पर भी सुधार ला सकें। इसके अतिरिक्त विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी को अन्तर्राष्ट्रीय चुनौतियों का सामना कराते हुए राष्ट्र को विश्व समूह में एक उन्नतशील देश के रूप में प्रतिष्ठित करा सकें । इन्हीं प्रयासों में 1958 ई. में कई प्रयोगों के पश्चात् प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के निर्देशन में "वैज्ञानिक नीति संकल्प" बनाया गया । उस संकल्प के अनुसार, आधुनिक युग में राष्ट्रीय समृद्धि की कुन्जी, लोगों की भावनाओं के अतिरिक्त तीन घटकों- प्रौद्योगिकी, कच्चे माल और पूंजी के प्रभावी मेल में निहित होती है । जिनमें से प्रथम संभवतः सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि नयी वैज्ञानिक तकनीकों का सृजन ओर उनको अपनाया जाना, वास्तव में, प्राकृतिक संसाधनों की कमी को पूरा कर देते हैं तथा पूंजी की मांग को भी कम कर देते हैं । और प्रौद्योगिकी केवल विज्ञान के अध्ययन और उसके अनुप्रयोग से ही विकसित होती है ।

24.7.2 शिक्षा एवं अनुसन्धान सेवाओं में विस्तार

स्वतन्त्रता के पश्चात् शिक्षा और अनुसन्धान दोनों में अत्यधिक विस्तार हुआ है । आज हमारे पास 150 विश्वविद्यालय और 5 आई. आई. टी. (भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान) है । लगभग 800 इंजीनियरी के और 110 चिकित्सा विज्ञान महाविद्यालय है । केन्द्र एवं राज्य सरकारों के अधीन कई सौ वैज्ञानिक अनुसंधान प्रयोगशालाएँ हैं तथा इसके अतिरिक्त निजी उद्योगों के अनुसन्धान एवं विकास की इकाईयाँ भी है । पिछले 50 वर्षों में अनुसन्धान के कार्य के लिये निर्धारित राशि में भी काफी वृद्धि हुई है । कुछ वैज्ञानिकों ने राष्ट्र में वैज्ञानिक ढांचे को तैयार करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है । जैसे श्री शान्तिस्वरूप भटनागर ने कौंसिंल ऑफ सांइटिफिक एण्ड इण्ड़स्ट्रियल रिसर्च को विकसित किया। एच. के. भाभा ने जो भौतिक शास्त्र के विद्वान थे, ने टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ फण्डामेण्टल रिसर्च को बनाया और बाद में डिपार्टमेण्ट ऑफ एटोमिक एनर्जी को गठित किया । वी. साराभाई ने भी परमाणु विभाग को विकसित किया तथा वास्तव में उन्होनें फिर डिपार्टमेन्ट ऑफ स्पेस की नींव डाली । इसी भांति डिपार्टमेण्ट ऑफ इलेक्ट्रोनिक्स का विकास हुआ । भारत के वैज्ञानिकों के मध्य विचार विमर्श बढ़ा तथा 1976 में अंकित शोधपत्रों की संख्या 75000 के लगभग थी जो कि इंग्लैण्ड (25000)ए व जापान (14000) की तुलना में अधिक व अमेरिका (1,42,000) से कम होकर भी प्रभावशाली थी । इन सब प्रयासों का परिणाम ही था कि भारत विश्व के दस औद्योगिक राष्ट्रों की गिनती में आने लगा।

24.7.3 भारतीय विज्ञान की प्रगति में मूल बाधाएँ

एक अध्ययन यह बतलाता है कि अनुसन्धान पर विश्वभर में होने वाला कुल व्यय का समाजवादी देशों को छोड़कर 98% व्यय विकसित देशों द्वारा किया जाता है । अर्थात् विकासशील देशों

द्वारा मात्र 2% व्यय किया जाता है । उस 2% में भारत का भाग आधा प्रतिशत से अधिक नहीं होना चाहिये । चूंकि विकसित देशों में जीवन-यापन का स्तर अपेक्षाकृत उन्नत है, इस कारण हमारे अधिकांश प्रतिभाशाली युवा उन देशों में जा बसते हैं । फिर विकासशील राष्ट्रों को अपने रक्षा बजट पर भी काफी खर्च करना पड़ता है, जिससे उनका शोध भी रक्षात्मक उपायों की ओर अधिक उन्मूख हो जाता है । इसके अतिरिक्त बढ़ती हुई जनसंख्या व उनका भूमि के स्रोतों पर बढ़ता दबाव प्रौद्योगिकी क्षेत्र में अधिक खर्च बढ़ने नहीं देता है और वैज्ञानिकों के सम्मुख भी सामान्य शोध पर कार्य करने को अधिक प्रेरित करता है । औद्योगिक प्रगति में 1984 की यूनियन कारबाइड जैसी दुर्घटना का रोकना भी जरूरी है । फिर प्रौद्यौगिक उन्नति पर्यावरण को न बिगाड़े यह भी ज्वलन्त समस्या वैज्ञानिकों व राष्ट्र के सम्मुख है ।

24.8 इकाई सारांश

प्रस्तुत इकाई में हमने यह जानने का प्रयत्न किया था कि हमारे जीवन और विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी में हुई परस्पर क्रिया से उत्पन्न होने वाले प्रश्नों का यदि हम उत्तर देना चाहे तो हमें विज्ञान के इतिहास को देखना होगा । विज्ञान का इतिहास केवल विख्यात वैज्ञानिकों के कार्यो का वर्णन नहीं है बल्कि इससे तो यह पता चलता है कि समाज में ज्ञान की सीमाओं ने किस प्रकार एवं कितनी करवटें ली । विज्ञान की वृद्धि समाज के विकास से गहन रूप से जुड़ी हुई है ।

आदि मानव ने अपने रहने तथा खाने पहनने की जो व्यवस्थाऐं जुटायी उसमें ही विज्ञान की उत्पत्ति देखी जा सकती है । उन प्रयासों में ही प्राचीन उपकरणों और तकनीकों का विकास हुआ फिर ज्यों - ज्यों मानव ने प्रकृति को अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप ढालने का यत्न किया । उससे कृषि के विकास में सहायता मिली । कृषि के बढ़ते उत्पादन ने अन्ततः एक उपभोक्ता वर्ग को जन्म दिया तथा नगरीय सभ्यताओं की नींव पड़ी । सिन्धु -सरस्वती घाटी की सभ्यता इसका श्रेष्ठ उदाहरण है।

लौह युग के भारत में खगोल विज्ञान, ज्यामिती, यांत्रिकी, रसायनशास्त्र, वनस्पति विज्ञान, प्राणी विज्ञान और चिकित्सा विज्ञान जैसे क्षेत्रों में महत्वपूर्ण प्रगति की । ई. पू. चौथी शताब्दी तक भारत में एक शक्तिशाली केन्द्रीकृत राज्य की स्थापना हो गयी और उस राज्य की बढ़ती प्रशासनिक एवं सैनिक आवश्यकताओं ने विज्ञान में नये अनुसंधानों की नींव डाली । इसके अतिरिक्त आदिवासियों को मुख्य धारा में लाने के क्रम के फलस्वरूप समाज में भी आवश्यक लचीलापन आने लगा । फिर बौद्ध, एवं जैन धर्मों के उदय ने उदारवादी दर्शन और विचारधाराओं का व्यापक प्रसार किया । मौर्यकाल में प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में उन्नति इन्हीं प्रयासों का परिणाम है । यह प्रक्रिया कुछ अन्तराल के साथ गुप्तकाल तक चलती रही । दस्तकारी व विदेशी व्यापार के उत्थान ने भी विज्ञान को नयी दिशा दी। इस युग में गणितशास्त्र एवं खगोल विज्ञान में उल्लेखनीय प्रगति हुई । नागार्जुन, आर्यभट्ट, चरक, वराहमिहिर जैसे प्रसिद्ध शास्त्री हुए । गुप्तकालीन शिल्पकारों ने लोहे तथा कांस्य में अपनी शिल्पकारी से अपने लिये एक अलग स्थान बना लिया दिल्ली के महरोली नाम के स्थान में 400 ई. के आसपास बना लौह स्तम्भ उनकी प्रौद्योगिकी की निपुणता का श्रेष्ठ उदाहरण है । गुप्त साम्राज्य के पतन के साथ विज्ञान के विकास में भी रुकावट आ गयी ।

मध्ययुगीन भारत को ज्ञान का अतुल भंडार प्राप्त करने का लाभ मिला । अरबों व यूरोपीय सम्पर्को ने भारतीयों को कई अनुसन्धानों से परिचय कराया । फलस्वरूप यहीं भी तकनीकी क्षेत्र में

कईं नयी खोजें की गई । कुछ शासकों ने जिनमें सुलतान फिरोज, अकबर व सवाई जयसिंह के नाम उल्लेखनीय हैं, खगोलशास्त्र एवं अनेक विज्ञान की शाखाओं में पर्याप्त रुचि ली । आइने- अकबरी में अबुल फजल ने अनेक उपकरणों एवं उनकी तकनीकी के बारे में लिखा है । शासकों द्वारा सौर पद्धति पर आधारित पंचांग अपनाने के कारण खगोल शास्त्र में अनेक अध्ययन करवाये गये । कृषि के बढ़ते क्षेत्र ने सिंचाई के उपकरणों को विकसित किया । सवाई जयसिंह ने 18वीं शताब्दी के प्रारम्भ में उत्तरी भारत के अनेक क्षेत्रों मे वैधशालाएँ खुलवायी एवं जयपुर खगोल शास्त्र अध्ययन का एक मुख्य केन्द्र बन गया । सैन्य विभाग में विशेषकर तोप व बन्दूक निर्माण में अनेक नयी तकनीकें अपनायी गयीं। मध्यकाल में अविकसित रॉकेट भी बनाये गये थे । जहाज निर्माण व उसकी तकनीक में भी परिवर्तन आये परन्तु भारत के भारी जहाज यूरोप के हलके जहाजों की गति के सम्मुख परास्त हो गये और इस निर्णायक तत्व ने भारत में यूरोपीय तथा ब्रिटिश वैज्ञानिक प्रौद्योगिकीय विकास ने भारत को पछाड़ दिया । मध्यकाल में भारतीयों ने कोई मौलिक चिन्तन नहीं दिखाया ओर साथ ही यूरोपीय तकनीक को समझने में कोई रुचि नहीं दिखलाई । इस दृष्टिकोण की जड़ प्रचलित सामाजिक परिस्थितियों के भेद व कठोरता में मिलती है ।

औपनिवेशिक शक्ति ब्रिटेन की अपने साम्राज्यवादी हितों के कारण भारत के प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग में अधिक रुचि थी, जिसके फलस्वरूप वनस्पति विज्ञान, भू विज्ञान, भूगोल जैसे कुछेक क्षेत्रों में प्रगति हुई लेकिन, उपनिवेशवादियों ने भारत की वैज्ञानिक परम्पराओं को क्रमश: नष्ट कर दिया । उन्होंने इस बात में भी रुचि नहीं दिखायी कि भारत में विज्ञान एवं तकनीकी शिक्षा का विकास हो । कहीं 19वीं शताब्दी में जाकर ये शिक्षाऐं लोकप्रिय होने लगीं । वस्तुत: कुछ वैज्ञानिकों के प्रयत्नों के फलस्वरूप भारत में विज्ञान लोकप्रिय होने लगा व बीसवीं शताब्दी में तो कुछ ऐसे श्रेष्ठ चरित्र भी आये जिन्होंने विज्ञान में नोबल पुरस्कार भी प्राप्त किया ।

राष्ट्रीय आन्दोलन ने भी विज्ञान की शिक्षाओं को बढाने एवं उनको प्रोत्साहित करने के आधार प्रस्तुत किये । कुटीर उद्योगों के विकास कार्यक्रम ने भारत की बुनियादी व प्राथमिक विज्ञान शिक्षा को प्रोत्साहित करने पर बल दिया वहीं सोवियत मॉडल ने भारी उद्योगों को विकसित करने की नीति पर बल दिया । ब्रिटेन के समर्थकों का कहना है कि ब्रिटेन ने अपनी नीतियों से भारत में आधुनिक विज्ञान को बढ़ावा दिया था । कृषि व सिंचाई में हुई उन्नति आधारभूत तकनीकी विकास की कहानी बतलाती है । भारत में और अधिक खर्च' की सीमाओं के कारण नहीं किया जा सकता था तथा फिर उस ज्ञान को अन्य उपनिवेशों में निर्यात करना भी असम्भव था क्यों कि प्रत्येक समाज की अपनी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि थी । जो भी हो, ब्रिटेन ने भारत में विज्ञान एवं तकनीकी विकास के आधारभूत ढांचे को उठाने में कोई विशेष रुचि नहीं दिखायी ।

स्वतन्त्र भारत की पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत विभिन्न आर्थिक कार्यक्रमों ने तथा विज्ञान एवं तकनीकी की नयी संस्थाओं के निर्माण ने भारत को शीघ्र विज्ञान के क्षेत्र में आगे बढ़ाना प्रारम्भ कर दिया । पण्डित नेहरू के वैज्ञानिक सोच व भारी उद्योगों की स्थापना ने विज्ञान की प्रगति के लिये एक वांछनीय वातावरण बनाना प्रारम्भ कर दिया । विज्ञान के पाठ्यक्रमों की विश्वविद्यालय स्तर पर लोकप्रियता भी बहुत बढ़ गयी । शोध के राष्ट्रीय स्तर पर स्थापना ने उसके विविध आयामों को आगे बढ़ाया । भारत के वैज्ञानिकों के शोधपत्र विश्वस्तर पर अनेक विकसित देशों की संख्या से अधिक हो गये । भाभा के नेतृत्व में भारत ने भौतिकी व परमाणु क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति की । फिर भी भारत

के पास विकसित राष्ट्रों की भांति बेहतर परिस्थितियाँ नहीं हैं । बढ़ती हुई जनसंख्या, साधनों की कमी, प्रतिभाशाली युवा वैज्ञानिकों का परिगमन एवं विकसित देशों का प्रयत्न व अप्रत्यक्ष रूप से बढ़ता दबाव विज्ञान व तकनीकी के विकास में मुख्य बाधाएँ हैं ।

24.9 प्रश्न

(अ) निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिये : -

1. विज्ञान एक सामाजिक दायित्व है । कैसे7
2. आदि मानव और कांस्य युग सभ्यता में मनुष्य द्वारा प्रयोग में लायी जाने वाली उत्पादन विधियों में क्या अन्तर था।
3. गुप्त साम्राज्य की उन राजनैतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों को बतलाइये जिसके कारण विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी में विशेष सुधार हुआ ।
4. मध्ययुग में विज्ञान व तकनीकी के क्षेत्र में ।स्थिरता आने के कारणों पर प्रकाश डालिये।
5. ब्रिटिश काल में व्यक्तिगत स्तर पर किये गये प्रयत्नों के फलस्वरूप विज्ञान के क्षेत्र में जो प्रगति हुई, उस पर प्रकाश डालिये ।

(ब) निम्न प्रश्नों का उत्तर 500 शब्दों में दीजिये

1. प्राचीन भारत में विज्ञान का उत्कर्ष सर्वाधिक हुआ । इसके कारणों व उसकी रूपरेखा पर प्रकाश डालिये ।
2. मध्ययुग में फिरोज तुगलक एवं अकबर ने विज्ञान एवं तकनीकी क्षेत्र में पर्याप्त रुचि ली, उदाहरण सहित इसकी व्याख्या कीजिए ।
3. क्या आप सहमत हैं कि उपनिवेशवादी शक्तियाँ भारत में विज्ञान के विकास के प्रति रूचि नहीं रखती थीं7
4. स्वतन्त्र भारत में विज्ञान की प्रगति के लिये कौनसी परिस्थितियाँ उत्तरदायी हैं7 स्पष्ट कीजिये ।

24.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. अर्जुनदेव, सभ्यता की कहानी, भाग । व ।। एन.सी.आई.आर.टी.
2. विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी में आधार पाठ्यक्रम, (एफ. एस. टी.-। व ।।) कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

इकाई सं. 25 "गणित और ज्योतिष"

इकाई की रूपरेखा

25.0 उद्देश्य

25.1 प्रस्तावना

25.2 ज्योतिष शास्त्र का क्षेत्र

25.3 भारतीय गणित और ज्योतिष के प्रजनकर

25.4 भारतीय गणित एवं ज्योतिष का विकास क्रम

25.4.1 अन्धकार काल. (ई. पू 10,000 तक)

25.4.2 उदयकाल (ई. पू. 10,000 से ई. पू 500 तक)

25.4.3 आदि काल (ई. पू 500 से सन 500 ई. तक)

25.4.4 रु मध्यकाल (सन् 500 से सन् 1000 तक)

25.4.5 उत्तर मध्यकाल (सन् 1000 से सन् 1600 तक)

25.4.6 आधुनिक (अर्वाचीन काल सन् 1600 से)

25.5 इकाई सारांश

25.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

25.7 प्रासांगिक पठनीय ग्रंथ

25.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में भारतीय इतिहास और संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में गणित और ज्योतिष के उदय विकासादि पर विहंगम दृष्टि से प्रकाश डाला जा रहा है इसके आद्योपान्त अध्ययन से अपेक्षित है कि आप-

- भारतीय गणित और ज्योतिष के स्रोतों, विकास और संग्रहों का अभिज्ञान प्राप्त करेंगे ।
- गणित और ज्योतिष के विश्व-भंडार में भारत के योगदान की अनुभूति करेंगे ।
- भारतीय गणित और ज्योतिष के आधारभूत तत्त्वों पर अन्तर्दृष्टि से लाभान्वित होंगे ।

25.1 प्रस्तावना

ॐ पूर्णभदः पूर्णमिद पूर्णात् पूर्णमुदव्यते ।
पूर्णस्य पूणमादाय पूणमेवावशिष्यते ।।

(बृहदारण्यक उपनिषद् के पंचम् अध्याय का यह मन्त्र 'पूर्ण' के युग-धर्म का वाचक है । परब्रहम सच्चिदानंद सब प्रकार से पूर्ण है । यह जगत् भी पूर्ण है । क्योंकि उस पूर्ण से ही यह पूर्ण उत्पन्न हुआ है । क्योंकि पूर्ण को निकाल लेने पर पूर्ण ही शेष रहता है।)

विभिन्न वस्तुओं को एक नाम देना ही गणित है । प्रत्येक विषय अपनी विकास प्रक्रिया में आगे अपनी प्रगति के लिए गणितीय सम्बन्धों, निष्कर्षों, विधियों और तकनीकों का ही सहारा लेता है विशिष्ट वस्तुओं और घटनाओं द्वारा प्रदर्शित व्यवस्था के सार का सामान्य अध्ययन ही गणित है,

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में हम पाते हैं कि गणित और ज्योतिष यमज (Twins) के रूप में भारत की संस्कृति के अभिन्न अंग रहे हैं । इस तथ्य को मानव संस्कृति और इतिहास की नियति भी कहा जा सकता है ।

मानव ने अपने निर्बन्ध गृहविहीन जीवन में अपनी संज्ञा, से जब ऋतु-संक्रमण जैसी आवृत्यात्मक (Frequent) प्राकृतिक परिवर्तनों को जाना, जब उसने इनके प्रभावों से उत्पन्न अनेक प्रकार के फूलों, फलों, अन्नों आदि को भोगा, तब उसको प्रकृति में कालिक (Periodic) आवृत का आभास हुआ। इस प्रकार उसने पंचांग (वार्षिक कलेण्डर) का भेद पा लिया । मानव ने पंचांग से काल को जीता और आकाशीय पिण्डों की गति और नियति जानी । ऋतु-संक्रमण के ज्ञान से उसने प्राणाधार अन्नों को बोया और काटा । चक्र के आविष्कार से मानव सभ्यता के विकास की गति को त्वरण मिला और मनुष्य धरा पर चक्रवर्ती बनने की दिशा में आगे बढ़ा । उसने गिना और गुना, जोड़ा और घटाया, शून्य और अनुपात जाना, संख्या से दशमलव तक, क्षेत्रफल त्रिकोणीयमिति से गुरत्वाकर्षण- सापेक्षता तक के सिद्धान्त खोजे । इस प्रकार ज्योतिष और गणित सहचरी बनकर रही है ।

ज्योतिष की व्युत्पत्ति "ज्योतिषां सूर्यादिग्रहाणां बोधक शास्त्रम्" की गयी है । अर्थात् सूर्यादि ग्रहों और काल का बोध कराने वाला शास्त्र ही ज्योतिष शास्त्र है । इसमें प्रधानतः ग्रह नक्षत्र, धूमकेतु आदि ज्योति पदार्थो का स्वरूप संचार परिभ्रमण काल, ग्रहण और स्थिति आदि समस्त घटनाओं का निरूपण तथा उनके अनुसार शुभाशुभ फलों का कथन किया जाता है । कतिपय मनीषियों के अभिमत के अनुसार नभमण्डल में स्थित ज्योति सम्बन्धी विविध विषयक विद्या ज्योतिर्विद्या है । इस विद्या के सांगोपांग विवरण का शास्त्र ज्योतिष शास्त्र Astronomy) है । भारतीय ज्योतिष के स्कंध पंच-सिद्धान्त-होरा और संहिता अथवा स्कन्ध पंच-सिद्धान्त, होरा, संहिता प्रश्न और शकुन अंग माने जाते हैं । फलित ज्योतिष (Astrology) ज्योतिष शास्त्र का एक अंग है । अपने आदि काल में ज्योतिष केवल ज्योति: पदार्थों-ग्रहों, नक्षत्रों, तारों आदि के स्वरूप-अभिज्ञान तक ही सीमित था । क्योंकि तब दृश्य-प्रेक्षण (Visoual observation) ही ज्ञान-प्राप्ति का साधन था ।

25.2 ज्योतिष शास्त्र (ज्योतिष गणित Astronomy) का क्षेत्र

ज्योतिष का अर्थ ज्योति अर्थात् प्रकाश पुंज सम्बन्धी विवेचना है । अति प्राचीनकाल से ही इसका सम्बंध इस विद्या-बोध से रहा है, जिसका सम्बन्ध खगोलीय पिण्डों (ग्रह-नक्षत्रों) की विवेचना से रहा है । इसमें उनकी भौतिक संरचना, स्थिति और गतिशास्त्र सम्मिलित है । भारत में ज्योतिष प्रागैतिहासिक काल के गर्भ में सांस्कृतिक उद्विकास के साथ ही अस्तित्व में आया । आधुनिक ज्योतिष का प्रादुर्भाव कोपर्निकस की सूर्य केन्द्रित प्रणाली-सिद्धान्त, गैलीलियों की दूरदर्शी, केपलर के अनुभूत (Empercial) गति नियमों तथा न्यूटन के व्यापक गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्तों से हुआ । सैद्धान्तिक अध्ययन की दृष्टि से ज्योतिष को तीन भागों- स्थितिज (Positional) गतिज (द्यनामिकाल) और भौतिक (Phsical) ज्योतिष में बाँटा गया है ।

स्थितिज ज्योतिष : - आकाशीय पिण्ड की स्थिति निर्देशांक गोलीय ज्यामिति से ज्ञात की जाती है । इसके लिए याम्योत्तर, विषवद और क्रान्ति वृत्तों को आधार बनाकर खगोलीय पिण्ड की भूस्थिति दृश्टा के सापेक्ष स्थिति से ज्ञात किया जाता है । इसके लिए भूकेन्द्रित स्थित खगोल की कल्पना

की गयी है । उपयुक्त एवं अन्य गणितीय अवधारणाओं के आधार पर अभीष्ट पिण्ड की नियामक के रूप में स्थिति ज्ञात की जाती है ।

गतिज ज्योतिष :- न्यूटन के व्यापक गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त की सहायता से खगोलीय-पिण्डों की कक्षायें, गतियों आदि ज्ञात की जाती हैं । इनमें तत्सबन्धी नियमों के अनुसार संशोधनों के प्रावधान हैं । इनका उपयोग सौरपरिवार, युग्म तारा तथा बहुतारा पद्धतियों में हो चुका है ।

भौतिक ज्योतिष : - आकाशीय पिण्डों की भौतिक संरचनाओं का ज्ञान वैज्ञानिक तकनीकी और विधियों से होने लगा है । इसमें अभीष्ट पिण्ड के वायुमण्डल का वर्णपट विश्लेषण से उसमें मौजूद तत्त्वों, तापमान आदि का ज्ञान होता है । इसके अलावा प्रकाश मापी, दूरदशी और कृत्रिम उपग्रह इस के लिए सूक्ष्मतम तथ्य उपलब्ध करते हैं ।

आकाशीय पिण्डों के प्रकार : -आकाशीय पिण्डों का मुख्यत: तीन वर्गो में बाँटा गया है । (1) सूर्य और सौर परिवार, (2) तारे, (3) आकाश गंगायें ।

सूर्य-सौर परिवार : - सूर्य निकटतम तारा है, यह गैसों से बना गोला है । इसका व्यास 13,93,000 किमी. है यह सौर परिवार के केन्द्र में हैं । यह सौर परिवार पर नियन्त्रण रखता है । पृथ्वी से इसकी दूरी 9,30,00,000 मील अर्थात्((1.4960+.0003) x 10^8 कि.मी. है । इसको ज्योतिष की इकाई कहते हैं । सौर परिवार के सदस्यों की कक्षाओं की दूरियाँ इसी इकाई में व्यक्त की जाती हैं । इसका गुरुत्वाकर्षण पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण का 27.89 गुना है । इसके पृष्ठतल का ताप $6,000^0$ से. केन्द्र का ताप $2,00,00,000^0$ से. तथा प्रकाश मण्डल का ताप $5,000^0$ से. है । सूर्य के तल पर धुंधली पृष्ठ भूमि में असंख्य बादलों के उष्ण टुकड़े प्रकाश कर्णो के रूप में दिखायी देते हैं । दूरदर्शी से सूर्य के प्रकाश मण्डल पर काले धब्बे दिखायी देते हैं । ये 4000^0 से. कम ताप वाले स्थल हैं । सूर्य कलंक कहते हैं । सूर्य कलंक के पास चमकते हुए भाग को अतिभा कहते हैं । सूर्य का वायुमंडल सैकड़ों मील में है । इसका ताप प्रकाश मंडल से कम है । इसमें हाइड्रोजन और हीलियम अधिक है । न्यूनमात्रा में सिलिकॉन, ऑक्सीजन तथा अन्य ज्ञात गैसे हैं । इसका विस्तार समरूप नहीं है । वर्णमंडल में सूर्य की सौर ज्वालायें आग की लपटों के रूप में विद्यमान हैं । कभी कभी ये प्रकाशमंडल से हजारों कि.मी. दूर तक उठती हैं । पूर्ण सूर्य ग्रहण के समय वर्ण मंडल से ऊपर अति उज्ज्वल शुभ्र प्रकाश का परिवेश (Hole) दिखायी देता है । इसको सूर्य किरीट (Corona) कहते हैं ।

सौर परिवार - सूर्य की परिक्रमा करने वाले खगोलीय पिण्डों का समुच्चय और परिवार है, इसमें ग्रह (Planets), उपग्रह, क्षुदग्रह (Asteroids), धूमकेतु (Comets) तथा उल्कायें सम्मिलित हैं।

ग्रह : - सूर्य की परिक्रमा करने वाले खगोलीय पिण्ड ग्रह कहलाते हैं । ये 9 हैं - बुद्ध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, गुर, शनि, वारुणी, (Uranus), वरुण (Nepline) और यम (Plato) । इनमें बुद्ध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, यम छोटे तथा अन्य विशाल हैं । बुद्ध और शुक्र की कक्षायें सूर्य के सापेक्ष पृथ्वी की कक्षा के भीतर पड़ते हैं । इसलिए इन्हैं अंतर्ग्रह तथा शेष को बहिर्ग्रह कहते हैं ।

उपग्रह : - जिस प्रकार गुरुत्वाकर्षण के कारण ग्रह सूर्य की परिक्रमा करते हैं, उसी प्रकार कुछ आकाशीय पिण्ड (उपग्रह) ग्रहों की परिक्रमा करते हैं । इनके द्रव्यमान अपने ग्रहों से कम होते हैं पृथ्वी का उपग्रह चन्द्रमा हैं, मंगल के 2, गुर, के 12, शनि के 9, वरुणी के 5 तथा वरुण के 2 उपग्रह हैं, बुद्ध, शुक्र, यम के कोई उपग्रह नहीं है ।

क्षुद्रग्रह :- ग्रहों की दूरियाँ ज्ञात करने के लिए उनके मध्य अन्य ग्रह की कल्पना की गयी । इस प्रक्रिया में सर्वप्रथम इटली के ज्योतिषी पियाजी ने सीटों नामक क्षुद्र ग्रह को ढूंढा । 1950 तक इनकी संख्या 1 ,600 हो गयी । अनुमान है कि इनकी संख्या 1 ,00,000 हैं ।

धूमकेतु : - ये अति न्यून घनत्व वाले द्रव्यों से बने आकाशीय पिण्ड हैं । सूर्य के समीप आने पर ये उससे विपरीत दिशा में बहुत दूर तक पुच्छ जैसे अपने भाग को प्रकाशित करते हैं । इनके मुख्य रूप से दो भाग हैं । गोलाकार घने प्रकाशित भाग को सिर तथा हल्के प्रकाशित लम्बे भाग को पुच्छ कहते हैं । इनके सिर में नाभिक होता है । ये सूर्य के प्रभाव में शांकव मार्गो पर जाते हैं । इनकी कक्षायें परवलयाकार होती हैं । बहुत से धूमकेतु दीर्घ वृत्ताकार कक्षाओं में नियतकाल में परिक्रमा करते हैं । इनकी गति गुरु द्वारा प्रभावित है । इन वर्षों में हेलि के नाम की खूब चर्चा हुई है ।

उल्कायें : - रात्रि में अति वेग से पृथ्वी की ओर आती हुयी चमकीली वस्तुओं को तारा टूटना कहते हैं । यही उल्का है । इस घटना को उल्का पात कहते हैं । पृथ्वी के वायुमंडल में प्रवेश करते हुए इनका वेग 11-62 कि. मी. प्रति सै. रहता है । धरातल में 100-120 कि.मी. दूरी पर ये हमें दिखाई देते हैं । 50-60 कि.मी. दूरी पर ये ओझल हो जाते हैं । अति वेग के कारण पृथ्वी के वायुमंडल में आकर ये जल जाते हैं । इनका अत्याल्प द्रव्यमान होता है । हमारा वायुमंडल ही इनसे हमारी रक्षा करता हैं । कभी कभी जब पृथ्वी पर उल्कापात होता है तो बहुत बड़ा गड्ढा हो जाता है । इस प्रकार वायुमंडल ऐसी प्राकृतिक दुर्घटनाओं में पृथ्वी और उसके निवासियों की रक्षा करते हैं ।

तारे : - गर्म गैसों से स्वयं प्रकाशित खगोलीय पिण्ड तारे हैं । ये अपने द्रव्य को निजी गुरुत्वाकर्षण से सम्बद्ध रखते हैं । तारों के समूह विशेष आकृति मे मिलते हैं । इन्हें तारामण्डल (Constellation) कहते हैं । क्रान्तिवृत्त में आने वाले तारा मंडल '"राशि" कहलाते हैं । ये मेषादि 12 हैं । अन्य तारा मंडलों को नक्षत्र कहते हैं । भारतीय ज्योतिष में ये अश्विनी आदि 27 हैं । उत्तर भाद्रपद और रेवती के मध्य 'अभिजित' 28 वें नक्षत्र को भी कुछ ज्योतिषी मान्यता देते हैं। राशियों के नाम उनके आकार और नक्षत्रों के नाम पौराणिक गाथाओं के आधार पर रखे गये हैं । इनके पाश्चात्य नाम ग्रीक और अरबी वर्णमालाओं और उनकी पौराणिक कथाओं के आधार पर हैं । तारों की सापेक्ष चमक को "कांतिमान' कहते हैं । केवल आँख से दिखाई देने वाले तारों की संख्या 6,500 हैं । तारों की इकाइयां नापने की इकाइयां पारसेक और प्रकाश वर्ष हैं । प्रकाश वर्ष वह दूरी है जिसको प्रकाश अपनी गति (1 ,86,000 मील/प्रति सेकण्ड) से एक वर्ष में तय करता है । यह दूरी 58,60,00,00,00,000 मील तथा पारसेक का 0.307 है । आकार के आधार पर तारों को अति दानवाकार (Giant), सामान्यक्रम (Main Sequence), वामनाकार (Dwarf) में वर्गीकृत किया गया है । नवजात तारा नवतारा कहलाता है । यह पहले से विद्यमान होता है । किन्तु इसमें विस्फोट हो चुका होता है । एकाएक अति प्रकाशित होकर विस्फुटित होना इसकी विशेषता है । कुछ तारों का प्रकाश नियत क्रम से बढ़ता-घटता रहता है । इन्हें चल तारा कहते हैं । इस श्रेणी में सिफियस चतुर्थ (S-(Delta)-(Cepheus) तथा आर आर लाइरा क्रम के तारे प्रमुख हैं । इनकी सहायता से आकाश गंगा प्रणाली की दूरी ज्ञात करने में सहायता मिलती है ।

आकाश गंगा : - यह 10^{11} तारों का एक बहुत बड़ा समूह है, इसका द्रव्यमान सूर्य के द्रव्यमान का 10^{11} है । इसके विषुवत् वृत्त का व्यास लगभग 10,00,000 प्रकाशवर्ष है । कृष्ण पक्ष की किसी स्वच्छ रात्रि में उत्तर से दक्षिण की ओर फैली हुई यह धुंधले चमकीले नक्षत्रों की एक चौड़ी शृंखला

है । इसका पूर्वार्द्ध-हंस, धनु में से गुजतरता हुआ कैरीना (Carina) तक फैला है । इसका दूसरा भाग हंस मृगशिरा तथा करीना या नौतल तक फैला है । पहला भाग दूसरी की अपेक्षा अधिक चमकीला है। धनु के समीप यह अधिकतम चौड़ाई और चमक लिए हुए है । इसका सर्पीला आकार है, इसका नाभिक सूर्य से लगभग 2,700 प्रकाश वर्ष दूरी पर धनु राशि में स्थित हैं । आकाश गंगा में पाये जाने वाले पदार्थ पिण्डों को निहारिकाओं, तारागुच्छ, तारामेघ में बांट सकते हैं, निहारिकायें गैसों से बने मेघ हैं। इनके अणु पास के किसी अति ऊष्ण तारे के प्रखर प्रकाश से आयनीकृत होकर चमकने लगते हैं ।

तारागुच्छ तारों के समूह हैं । इनमें कुछ छोटे और एक दो चमकीले होते हैं । दूरदर्शी से इनमें सैकड़ों तारे और एक दो निहारिका जैसी चीज दिखाई देती है । कृत्तिका एक तारागुच्छ है । ये आकाशगंगीय और गोलीय दो प्रकार के होते हें । कृत्तिका आकाशगंगीय तारा गुच्छ है ।

तारामेघ मेघाकार असंख्य तारा-समूह है । बड़ा मेगलानिक और छोटा मेगलानिक तारा मेघ महत्वपूर्ण है । ये वास्तव में आकाश गंगाये है । जो कि पृथ्वी की आकाश गंगा के निकट है । आकाश गगायें सर्पिल, दीर्घवृत्ताकार तथा अनियमित प्रकार की होती हैं । देवयानी (Andromeda) आकाश गंगा हमारी आकाश गंगा की भांति सर्पिल है ।

25.3 भारतीय गणित और ज्योतिष शास्त्र के प्रजनक

मानव-संस्कृति को बहुआयामी नियति के प्रतीक विविध और पेचीदे विषयोंधर्म, आध्यात्म, तात्विक, दर्शन, मनोविज्ञान, नीति, शिक्षा, विज्ञान, गणित अभियांन्त्रिकी।, आयुर्विज्ञान, राजनीति शास्त्र, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, कला, साहित्य, संगीत आदि से सम्बन्धित विज्ञान का विश्व में प्राचीनतम अभिलेख वेदों में निहित है । ऋग् यजु, साम, अथर्व में प्रथम प्राचीनतम है । वेदों में उपवेद और 6 वेदांग सम्मिलित है । उपवेद इस प्रकार है । (I) आयुर्वेद (Anatomy)-शरीर रचना विज्ञान, (Physiology, शरीर क्रिया विज्ञान) (Hygine, स्वास्थ्यकर विज्ञान) स्वच्छता विज्ञान, (Medical Science, आयुर्विज्ञान) (Surgery, शल्य चिकित्सा विज्ञान) (II) धनुर्वेद धनुर्विद्या और सैन्य विज्ञान (Archery and Military Science), (III) ग्रन्धर्व वेद -संगीत की कला और उसका विज्ञान (Art and Science of Music), (Iv) स्थापत्य वेद अभियान्त्रिकी (Engineering) गणित, (Mathematics) । वेदों के अनुषंगी (Ancillar) 'वेदांग-शिक्षा (शिक्षा-Prounciation), व्याकरण (Grammer), छन्द (Metra) निरुक्ता (Etymology) तथा कल्प (Ritual) और ज्योतिष (Astronomy) हैं । प्रथम चार का सम्बन्ध पवित्र मूल गन्थों के पठन और उनके सस्वर वाचन से है । अन्तिम दो प्रधानतः: बलि और यज्ञों (Sacrifices) और उनके शुभ मुहूर्त से सम्बन्धित हैं । स्पष्टत: अपनी प्रयुक्ति में ये गणित और ज्योतिष के क्रियात्मक पक्षों को ही उद्घाटित करते है।

मूल रूप में वेद का अभिप्राय असीमित ज्ञान का भंडार और निर्झर शीर्षोद्गम (fountainheed) है । मनुष्य मात्र के लिए आवश्यक सभी प्रकार का ज्ञान इसमें मौजूद है । ज्ञानानुरागी (Seeker of Knowledge) किसी भी विषय में जितना भी पाना चाहता है, वह सब पूरे (Complete) और परिपूर्ण (Perfect) सकल (Allround) रूप में वेद विद्या में उपलब्ध है । आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक ज्ञान सम्बन्धी सभी स्थूल और सूक्ष्म तत्व इसमें विद्यमान हैं । वेद शिक्षण और प्रशिक्षण के उत्पाद नहीं है । ये श्रुत हैं । ये सत्य-द्रष्टाओं की वाणी से मधुर गीतों के

रूप में स्वयमेव प्रस्फुटित हुए हैं । सभी वेदमंत्र और सूक्त त्रि-आयामी अर्थ वाले हैं । ये आयाम भौतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक हैं । 'उषा', प्रातःकाल; अज्ञान-ज्ञान की सन्धि, देवी उषा तीनों अर्थों में प्रयुक्त होने वाला शब्द है । यह बात गणित और ज्योतिष के सूक्तों और सूत्रों के लिए भी सही है । एक मंत्र की दो पंक्तियो जहाँ एक ओर कृष्ण की स्तुति करती है वहीं इससे शिवस्तुति भी होती है । गणित में यह मंत्र 'पाई' वृत्त को परिधि- और त्रिज्या का अनुपात के दसवें भाग को दशमलव के 32 अंकों तक प्रस्तुत करता है । वेदिक सूत्रों (fomula) और समीकरणों (equations) के द्वारा जटिलतम और लम्बी गणितीय प्रक्रियाओं को एक दो शब्दों में ही प्रस्तुत किया गया हैं । गणित और ज्योतिष के सम्बन्ध में अनुगामी पंक्तियाँ महत्वपूर्ण हैं ।

गणित : - आधुनिक पाश्चात्य गणित की प्रगति और विकास के लिए विश्व समुदाय प्राचीन भारत के भव्य और गौरवशाली योगदान के लिए कृतज्ञ है । 'शून्य' का सृजन गणित को भारत की अमूल्य देन है मानव संस्कृति में उसकी बौद्धिक शक्ति के सामान्य चलन के लिए इतना शक्तिशाली अन्य कोई गणितीय सर्जन नहीं है । हिन्दुओं ने गणितीय अभिव्यक्ति की वर्तमान दशमलव पैमाने की पद्धति प्रागैतिहासिक काल में ही ग्रहण कर ली थी । दुनिया की अन्य कोई आंकिक भाषा इसके समान वैज्ञानिक और पूर्ण नहीं है । इसके प्रयोग से किसी भी संख्या को पूर्ण लालित्य और सरलता से प्रस्तुत किया जा सकता है । हिन्दू अंक विद्या ने सभ्य विश्व के लोगों का ध्यान आकर्षित किया। सभी ने सहज रूप में इसको स्वीकार किया । ऐसा माना जाता है कि सन् 1770 ई. में हिन्दू विद्वान् कंक (Kanka) अपनी अंक विद्या को अरब ले गये । अब्बा सईद खलीफ अल-मन्यूर ने उज्जैन से इनको बगदाद के दरबार में आमंत्रित किया । उन्होंने अरबी विद्वानों को हिन्दू ज्योतिष और गणित सिखाये । अरब के विद्वानों ने कंक की सहायता से ब्रह्मगुप्त के 'ब्रह्म स्फुट सिद्धान्त'' का अरबी में अनुवाद किया । सातवीं सदी में सीरिया इससे परिचित था तथा इसको समझता था । उत्तरी अरब और मिश्र से होकर यह अंक पद्धति पश्चिम की ओर अग्रसर हुई । ग्यारहवीं सदी में इसने यूरोप में प्रवेश किया । यूरोपियनों ने इसको 'अरबी अंक विद्या, कहा । क्योंकि उन्हें यह अरब से ही प्राप्त हुयी थी । किन्तु सभी अरबी इसको हिन्दू अंक (Al-Axquan-Al Hindu) कहते थे । गणितीय दृष्टि से परमोन्नत वर्तमान वैज्ञानिक पाश्चात्य संसार अत्यधिक धन, शक्ति और समय लगाकर जिन जटिल गणितीय समस्याओं को हल करता है, उन्हें सहज बोधगम्य वैदिक सूत्रों की सहायता से सरल ओर निमिष चरणों में सरलता और तत्परता से हल किया जा सकता है । ये सूत्र अथर्व वेद के परिशिष्ट में हैं । इनका उपयोग गणित की सभी शाखाओं और उनके प्रत्येक अध्याय के प्रश्नों के हल के लिए किया जा सकता है । ये सूत्र सरलता से बोधगम्य, कण्ठस्थ करने योग्य एवं उपयोजनीय हैं । गणित की विशिष्ट समस्याओं के हल के लिए इन सूत्रों के लिए उप सूत्र और उप कर्णिकायें (Corollaries) वैदिक साहित्य में उपलब्ध हैं ।

ज्योतिष : - ज्योतिर्ज्ञान का भारतीयों में उद्भव स्वाभाविक रूप में हुआ । इनमें इस विद्या की ललक विदेशी प्रभाव से उदभूत नहीं हुयी । निस्सन्देह समयसमय पर विदेशी सम्पर्क से ज्ञान के आदान प्रदान का इस पर प्रभाव पड़ा । किन्तु, इसकी मूल भावना भारत की ही है । ज्योतिष के आधारभूत मूल तत्वों का सन्धान हजारों वर्ष पूर्व इसी भूमि पर हुआ । खगोल शास्त्र की विषय वस्तु की जानकारी के लिए भारत किसी का ऋणी नहीं है । उसके ऋषियों और आप्त पुरुषों ने आत्मानुभूति से ब्रह्माण्ड

का ज्ञान प्राप्त किया । वे स्वयं इसके द्रष्टा (seers) थे । आत्माभिव्यक्ति द्वारा उन्होंने अपने इस ज्ञान को वाणी द्वारा प्रसारित किया । इस प्रकार यह ज्ञान दूसरों के लिए "श्रुत" बना ।

25.4 भारतीय गणित एवं ज्योतिष का विकास क्रम

ज्योतिष और भूमिशास्त्र में भारतवासियों ने ई. पू 3000 वर्ष में ही अच्छी पारदर्शिता प्राप्त कर ली थी । भारतीय सदियों से अपनी पद्धति द्वारा चन्द्र-सूर्य ग्रहणों की सही सही गणना करते आ रहे हैं । ग्रहण-ज्ञान के काल से ही उन्हें अक्षांश ज्ञान प्राप्त है । इनकी अक्षांश-रेखांश प्रणाली वैज्ञानिक और सटीक रही है । विश्व की वर्तमान सभ्य जातियों ने सांस्कृतिक दृष्टि से जब हाथ- पैर हिलाना भी शुरू नहीं किया था, भारत ने माननीय समस्याओं के हल ज्योतिष द्वारा निकालना शुरु-कर दिया था । भारतीय ई. सन् से हजारों वर्ष पहले ही ज्योतिष में दूसरों की अपेक्षा पारंगत हो गया था । सर्वप्रथम नक्षत्र-ज्ञान भारत को ही हुआ । चीन और अरब की ज्योतिष का जनक भारत है । इनका' 'क्रान्तिमण्डल' भारत की ही देन है । भारतीयों को ही सर्वप्रथम 12 राशियों का ज्ञान हुआ । भारतीय विद्वानों को समय समय पर बगदाद आमंत्रित किया गया था। जहाँ वे भारतीय ज्योतिष-ज्ञान देते थे । उनके ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद उन्हीं की सहायता से किया गया था । इससे उनकी मौलिकता भी अक्षुण्ण रही।

भारतीय गणित और ज्योतिष के विकास क्रम को निम्नलिखित काल खंडों में प्रस्तुत किया जा रहा है ।

1. अन्धकार काल ई. पू 10,000 वर्ष तक
2. उदयकाल ई पू 10,000 वर्ष से ई. पू 500 वर्ष तक
3. आदिकाल ई. पू 499 से ई. सन् 500 तक
4. पूर्व मध्यकाल ई. सन् 501 से ई. सन् 1000 तक
5. उत्तर मध्यकाल ई. सन् 1001 से ई. सन् 1600 तक
6. आधुनिक काल ई. सन् 1601 से ई. सन् 1946 तक

25.4.1 अन्धकार काल

अन्धकार युगीन भारत के गणित और ज्योतिष से संबन्धित साहित्य उपलब्ध नहीं है । न ही इसके प्रत्यक्ष पर्याप्त-प्रमाण सामग्री के रूप में उपलब्ध हैं । किन्तु, इसके विषय में उदय काल और आदि काल की प्रमाण-सामग्री और साहित्य का सहज अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है । क्योंकि इन काल खंडों का गणित और ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञान का उद्विकास आकस्मिक नहीं कहा जा सकता। यह सांस्कृतिक विकास-क्रम का ही एक अंग है, उदयकाल और आदि काल की ज्ञान- राशियाँ हजारों वर्ष पहले से चली आ रही सांस्कृतिक परम्पराओं की देन हैं । भारत का ज्योतिष सिद्धान्त 4 अरब 32 करोड़ वर्ष की अवधि को एक कल्प-काल मानता है । सृष्टि का सृजन और विनाश माना गया है, इस मान्यता के अनुसार सृष्टि के अस्तित्व में आते ही सभी ग्रह-नक्षत्र और अन्य पिण्ड अन्तरिक्ष में अपनी अपनी कक्षाओं में स्थापित होकर अपनी स्वाभाविक गतियों में नियमित हो गये ।

सृष्टि के अनन्तर दीर्घ काल तक मनुष्य लिपि रूप भाषा से रहित था । अपना काम चलाने के लिए वह सांकेतिक भाषा का ही प्रयोग करता था । विकासवाद के अनुसार उन के पास सुख- दुख, हर्ष-विषाद, दर्द-पीड़ा की अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए अस्पष्ट 'नाद', था । इसी नाद में अनुभवों

के अनुरूप विविधताओं और उनके भेदानुरूप चेष्टाओं के द्वारा क्रमिक रूप से व्यक्त नाद आरम्भ हुआ। स्वाभाविक अनुकरण प्रक्रिया से विचारों और अनुभवों का विनियम होने लगा । लम्बी प्रक्रिया के बाद इसने सम्भाषण का रूप धारण किया होगा । जो, कुछ काल पश्चात् लिपि की भाषा बनी ।

अन्धकार काल में मानव एवं ब्रह्माण्ड के विषय में क्या, क्यों, कैसे जिज्ञासायें अवश्य उत्पन्न हुयी होंगी । इन जिज्ञाओं की तुष्टि के लिए समय दिशा और स्थान की अनुभूतियाँ सहज रूप में उसको हुयी । यही ज्योतिषीय ज्ञान की आधारशिला है । भारत की विशेषता आध्यात्मिक ज्ञान है । इसका प्रारम्भिक साधन योग-क्रिया थी । इसके द्वारा भारतीयों ने अपने अन्दर ब्रह्माण्ड को देखा । उसने अपने अन्दर के ब्रह्माण्ड की तुलना बहिर्ब्रह्माण्ड से की । दोनों को समरूप पाया । उसने द्रष्ट ब्रह्माण्ड के अध्ययन से सृष्टि का ज्ञान ग्रहण किया । मौखिक रूप से यह ज्ञान दीर्घ काल तक पीढ़ी दर पीढ़ी सम्प्रेषित होता रहा । इस प्रकार यह 'श्रुत' ज्ञान बना ।

अन्धकार युग के ज्योतिष विषयक साहित्य का उपलब्ध न होना स्वाभाविक ही है । क्योंकि इस काल खंड में कोई लिपि विकसित नहीं हो सख्ती थी । इतना तो मानना ही पड़ेगा कि तत्कालीन भारतीयों को दिन रात, पक्ष, मास, अयन, वर्ष आदि कालांगों का परिचय अवश्य था । उस काल को प्रकट करने वाले सूर्य, चन्द्र का बोध था ।

जैन-मत के अध्ययन से अन्धकार-काल के ज्योतिष ज्ञान पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है । इसके अनुसार संसार अनादि काल से ऐसा ही चला आ रहा है । इसमें न तो सृजन होता है, न ही विनाश केवल वस्तु जगत के पदार्थ बदलते है । ब्रह्माण्ड का कोई सृष्टा नहीं है । यह स्वयं सिद्ध है । किन्तु भारत और ऐरावत क्षेत्र में अवसर्पण के अनन्तर प्रलय होता है । पुण्यात्माये विजयद्धि की गुफाओं में छिपी रहते हैं । उत्सर्पण के दु:षमा-दु:षमा काल में जल, दुग्ध, दधि, घृत की वृष्टि से जब धरती चिकनी-रहने योग्य बन जाती है तो जीव उसमें आकर संसार बसाते हैं ।

तदन्तर उत्तरोत्तर निश्चित काल खंडों में क्रमश: भोगभूमि, कर्मभूमि, की रचना होती है । तृतीय काल खंड में 14 कुलकर उत्पन्न होते हैं । ये प्राणियों को विभिन्न प्रकार की शिक्षायें देते हैं। शंकाये दूर होने पर वे उनके अनुसार अपने कार्यों का संचालन करने लगे । द्वितीय कुलकर ने नक्षत्र विषयक और आकाश मंडल का ज्योतिषीय ज्ञान दिया । इस प्रकार ज्योतिष-ज्ञान संस्कृति तथा सम्पूर्ण ज्ञान ही आधार शिला है ।

अन्धकार काल में ज्योतिष गणित का ज्ञान खूब विकसित था । यह ज्ञान जन साधारण को सहज रूप में उपलब्ध था । सभी को ग्रह नक्षत्रों का पर्याप्त ज्ञान था । आकाशीय प्रेक्षण से मनुष्य स्थान, समय, दिशा और प्राकृतिक घटनाओं का सटीक अनुमान लगाने में समर्थ था । मनुष्य का कार्य-व्यापार ग्रह- नक्षत्रों के अनुसार चलता था । इस ज्ञान का स्वरूप श्रुत ही था ।

25.4.2 उदय काल

भारत में ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में यह आयी के अभ्युदय का काल-खण्ड है। इसमें वैदिक साहित्य का सृजन विकास और प्रसार हुआ । ऋग्वेद को प्राचीनतम अवशेष माना गया है । इस काल को अदिति, पुनर्वसु, कृत्तिका और सूत्र 4 खंडों में विभाजित किया गया है । इनमें जो प्रमुख सृजन हुए वे क्रमशः इस प्रकार है- वैदिक गद्य-पद्य मन्त्र, सूक्त वेदांग ज्योतिष एवं तैत्तिरीय संहिता सहित कई ब्राह्मण और सूत्र तथा दार्शनिक विचार ।

वैदिक सूत्रों, सूक्तों और यन्त्रों में भौतिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक बहु आयामी ज्ञान तत्त्व छिपे हैं । इनमें गणित और ज्योतिष के आधारभूत ढांचे का प्रारूप मौजूद है । इस काल में इस युग्म में की गयी प्रगति का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है ।

गणित : - इस काल में विकसित गणितीय ज्ञान का लिखित विवरण तो भाषा-विकास के अभाव में उपलब्ध नहीं है, किन्तु श्रुत वैदिक मंत्रों के गहन अध्ययन और निर्वचन से ज्ञात होता है । उदयकाल में ही गणित पर्याप्त रूप से विकसित हो गया था । अथर्ववेद के परिशिष्ट में दिये गये सूत्र गणित के सभी क्षेत्र में उपयोगी है । इन सूत्रों के अलावा जटिलतम गणितीय प्रश्नों के हल के लिए बहुत ही सरल उप सूत्र और उपप्रमेय भी इसमें उपलब्ध हैं । सूत्रों, उपसूत्रों, प्रमेयों, उप प्रमेयों को इतने सूक्ष्म और सरल रूप में प्रस्तुत किया गया है कि आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् इन्हें 'जादुई' कहते हैं । उदाहरणार्थ 'निखिल' नवतश्चरमं दशतः' सूत्र से किन्हीं भी बड़ी से बड़ी संख्याओं के गुणनफल को तत्काल एक पंक्ति में ही लिखा जा सकता है । जगद्गुरु स्वामी श्री भारतीय कृष्ण तीर्थजी महाराज ने 'वैदिक गणित' के नाम से 16 सूत्रों, 13 उपसूत्रों की व्याख्या तथा उनका व्यावहारिक उपयोग आधुनिक गणित के विभिन्न क्षेत्रों में पुस्तिका के रूप मे प्रस्तुत किया है ।

ये सूत्र उपसूत्र एवं उपकर्णिकायें (Corolloris) अंकगणित के सभी प्रकरणों के साथ साथ अर्द्धगोलक के गुरुत्वाकर्षण केन्द्र समीकरणों के रूपान्तरण, गतिकी, स्थैतिकी, वातिलिकी, (Pnuematics), प्रयुक्त यान्त्रिकी आदि में समान रूप से उपयोगी है । इसी प्रकार ठोस, ज्यामिति समतल त्रिकोणमिति, गोलीय त्रिकोणमिति, ज्योतिष आदि मे उपयोग के लिये वैदिक शास्त्र गणितीय सामग्रियों से भरा हुआ है । π 'पाई' के दसवें भाग का मान दशमलव के 32 अंकों तक 32 अक्षरों 2 पंक्तियों के श्लोक 'गेपीभाग्यमधुव्रात-श्रुङ्गिशोदधिसान्धिग खलजीवितखाताव गलहालारसंघर' में प्रस्तुत है । π/10= .314 15926535897932384626433832792.... । यह श्लोक अपनी व्याख्याओं में भगवान कृष्ण और भगवान शंकर दोनों की स्तुतियाँ भी हैं । इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतीय गणितज्ञ सूक्ष्मतम गणनाओं में उस काल में भी पारंगत थे जबकि यूनानी एवं संस्कृति की एक रूपरेखा" 1000 से अधिक संख्याओं से अनभिज्ञ थे ।

ज्योतिष - वैदिक कालीन भारतीय यज्ञ किया करते थे । यज्ञों से यथेष्ट फल प्राप्त करने के लिए उन्हें निर्धारित शुभ समय में करना अभीष्ट था । इस के लिये वे सूर्य - चन्द्रमा की स्थितियों से वेधों द्वारा समय का ज्ञान प्राप्त करते थे । आर्यों ने ऋग्वेद-काल में चान्द्र-सौर वर्ष गणना पद्धति का ज्ञान प्राप्त कर लिया था । वे 12 चान्द्रमास जानते थे । चान्द्र मासों को सौर वर्ष के साथ समायोजित करने के लिए उन्होंने 'अधिमास' को स्थापित कर लिया । वे दिन को चन्द्रमा के नक्षत्र से व्यक्त करते थे । सौर वर्ष 366 दिनों तथा चान्द्र वर्ष 354 दिनों का था। अधिमास को संसर्प नाम दिया गया है।

यजुर्वेद काल भारतीय वर्ष के 12 मास मधु-माधव, शुक्र,शुचि, नमस्, नमस्य, इष, उर्जा, सहस, सहस्य, तपस तथा तपस्या थे । बाद में चन्द्र नक्षत्र के आधार पर इनके नाम चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद, अश्विनी, कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष, माघ तथा फाल्गुन हो गये । यजुर्वेद में नक्षत्रों और उनके इष्ट देवी-देवताओं के नाम भी उपलब्ध हैं । उसमें तिथि, पक्ष, आय, और विषुव दिन की कल्पना है । विषुव यह दिन है जब सूर्य विषुवत और क्रान्ति वृत्त के संपात में रहता है । तत्कालीन भारतीयों को गुरु, शुक्र, राहू केतु का भी ज्ञान था

वेदांग, ज्योतिष के अनुसार पांच वर्ष की अवधि एक युग है । इसमें 1830 माध्य सावन दिन, 62 चान्द्र मास, 1860 तिथियों, 67 नाक्षत्र मास होते हैं। युग के ये 5 वर्ष इस प्रकार हैं - संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर तथा इद्वत्सर । इसके अनुसार तिथि तथा चान्द्र नक्षत्र की गणना की गई । आने वाले कालों के लिए इस युग की महत्वपूर्ण निधि 'युग' है, इसमें सूर्य और चन्द्रमा के प्रत्यक्ष वेधों के आधार पर मध्यम गति ज्ञात करके इष्ट तिथि आदि निकाली गई है । आगे आने वाले सिद्धान्त ज्योतिष ने इसी प्रणाली को अपना कर मध्यम ग्रह निकाले हैं ।

महाभारत काल में विभिन्न स्थानों पर ग्रह स्थिति, ग्रह युति, ग्रह युद्ध के वर्णन उनके प्रभावों के आधार पर कार्य-व्यापार चलता था ।

ऋग्वेद संहिता में सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण का वर्णन मिलता है । राहू-केतु को ही ग्रहण का कारण माना गया है । ग्रहणों को उपग्रह-शांति के लिए इन्द्रादि देवताओं की स्तुतियाँ की गई हैं ।

उदयकाल में केवल समय-विभाग ज्ञान तक ही सीमित नहीं था, बल्कि ज्योतिष के सिद्धान्त भी ज्ञात थे । इस काल में ग्रह-कक्षा का भी ज्ञान था । अन्तरिक्ष, द्यो, सूर्य और चन्द्र ये क्रमश: ऊपर ऊपर हैं । ऐसा तैत्तिरीय संहिता में उल्लेख हैं ।

25.4.3 आदिकाल

यह काल-खंड भारतीय संस्कृति के इतिहास में सर्वाधिक महत्त्व का है, इसमें भारतीय इतिहास का स्वर्ण-युग-गुप्तकाल (लगभग 275 ई.-500 ई.) सम्मिलित है । यह काल सांस्कृतिक विकास और उथल-पुथल का रहा है । यूनान (पाँचवीं-चौथी ई. पू) एवं रोम (पहली सदी ई. पू) के इतिहास प्रसिद्ध स्वर्णयुगों से यह काल-खंड विभूषित है । यह उल्लेख इस दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है कि भारतीय गणित और ज्योतिष को गुप्त काल में इन यूनान और रोमक विधाओं से चार चांद लगे । सांस्कृतिक आदान-प्रदान से भारतीय संस्कृति ने इस काल में अपना विशिष्ट स्वरूप प्राप्त किया । भारत ने संसार को बहुत दिया। किन्तु संसार से भी कम नहीं लिया । आर्य, ईरानी, ग्रीक पल्हव, शक, मुरुंड, कृषाण, और हूण सभी की विधाओं को भारत ने अंगीकार किया । इनके रंग- बिरंगे ताने-बानों से बुनकर भारतीय संस्कृति का वसन-पट विविधताओं से सुसज्जित हुआ । भारतीय गणित और ज्योतिष इससे पुष्ट हुए। तथा उसके ज्ञान से पश्चिम लाभावन्ति हुआ ।

गणित : - इस काल के गणितज्ञों मे आर्य भट्ट प्रथम, वराहमिहिर, लाट, लव्राचार्य, आर्य भट्ट द्वितीय प्रमुख हैं । ज्योतिषीय गणित में भी इनका बहुत योगदान है ।

सर्वप्रथम आर्यभट्ट ने ही गणित को अन्य विषयों से मुक्त कर स्वतन्त्र शास्त्र का रूप दिया। उसके प्रसिद्ध ग्रन्थों में 'दशगीतिक सूत्र' और 'आर्याष्टशतक' प्रमुख हैं । उन्होंने गणित में मूल क्रिया, घात क्रिया, क्षेत्रफल- आयतन श्रेणी, बीजोय सर्व समिकायें, अन्तर्वर्ती समीकरणों की खोज की।

आर्यभट्ट ने सर्वप्रथम पृथ्वी को गोल मानकर उसके व्यास का सही मान (4967 योजन) ज्ञात किया । उसने π का मान 3.1416 ज्ञात किया । 1, 2, 3... अंकों को क आदि वर्गाक्षरों में प्रस्तुत कर गणितीय प्रक्रियाओं के लिये सूक्तों की रचना की । क वर्गाक्षरों को 1 -5, इसी क्रम में चवर्गाक्षरों को 6-10... प वर्गाक्षरों को 21 -25 में व्यक्त किया7 य वर्गाक्षरों य.... ह को 30, 40.... 100 अंक माना। इसी प्रकार बड़ी से बड़ी संख्या को भी निश्चित संकेताक्षर आवंटित किया । आर्यभट्ट की अंकन पद्धति (संकेतन-Notation) सबसे बड़ी देन है, आर्यभटीय' में ही इसका प्रथम बार उपयोग हुआ ।

ज्योतिषीय गणित में वराहमिहिर का भी विशेष योगदान है, 'पञ्चसिद्धान्तिका' इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है । गणित में लल्लाचार्य आयभट्टीय सिद्धान्तों को लेकर चले हैं । गणिताध्याय में उन्होंने ज्योतिषीय गणित की व्याख्या की है । आर्यभट्ट द्वितीय ने 'महाआर्य सिद्धान्त' की रचना की है । इसमें 18 अध्याय और 625 आर्या उपगीति है । पाटीगणित, क्षेत्र व्यवहार ओर बीजगणित भी इसमें सम्मिलित है ।

ज्योतिष इस काल में ज्योतिष का आरम्भ वेदांग ज्योतिष से हुआ । इस काल के सैकड़ोंज्योतिष ग्रन्थ हैं । इनमें ऋग, यजु और अथर्व ज्योतिष, सूर्य प्रज्ञप्ति, चन्द्र प्रज्ञप्ति, ज्योतिष्करण्डक, स्मृति, महाभारत प्रमुख हैं । इसमें 5 वर्षीय (1800, सौर दिनों) युग को विभिन्न प्रकार के दिवसों में प्रस्तुत किया गया । इसमें चान्द्रमास 29-32762 दिनों एवं एक तिथि 29-32/62 मुहुर्त के माने गये । ऋक्, यजु और अथर्व में तिथि, नक्षत्र, करण, योग तारा, चन्द्रमा के बलाबल का सुन्दर निरूपण किया गया है । इस काल के प्रारम्भ में ही भारत मे वारों और वाराधिपतियों का प्रचलन हो गया था । जन्म-नक्षत्र को लेकर फल निरुपण उच्च स्तरीय ढ़ंग से होने लगा था, सूर्य-प्रज्ञप्ति में युगअयन, तिथि, मास के अतिरिक्त सौर-परिवार और भ्रमण वृत्तों की सुन्दर विवेचना है । इसमें जम्यूद्वीप के दो सूर्य, दो चन्द्रमा बताये गये हैं । प्रधानतः: इस ग्रन्थ में सूर्य गमन आयु, परिवार और संख्या का सुन्दर निरूपण है ।

चन्द्र प्रज्ञप्ति सूर्य प्रज्ञप्ति की अपेक्षा अधिक परिष्कृत है । इसमें छाया प्रमाण से दिनमान का प्रमाण ज्ञात किया गया है । यह ज्योतिष की दृष्टि से महत्वपूर्ण है । इसमें 25 वस्तुओं की छाया बतायी गई है, इनमें एक कीलक छाया, (कीलक छाया) का भी उल्लेख है । वर्तमान में इसका स्वरूप शकुछाया (शंकुमान-द्वादश अंगुल) है । ज्योतिष्करण्ड में लग्न एवं कृत्तिका आदि नक्षत्रों की विवेचना की गई है, मनु स्मृति में सतयुग आदि का वर्णन है । महाभारत में स्थान स्थान पर नक्षत्रों की सापेक्ष स्थितियों एवं व्यक्ति, समाज, देश, युद्ध आदि पर उनके प्रभावों की व्याख्या की गयी है ।

शक संवत् (78 ई.) तथा विक्रमी संवत् (ई. पू 57 वर्ष) इसी काल में आरम्भ हुए । राष्ट्रीय और ज्योतिष पंचांगों मे इन दोनों का आज महत्वपूर्ण स्थान है ।

भारतीय ज्योतिष पर ग्रीक और रोम के ज्योतिष विचारों के इस काल में गहरे और दूरगामी प्रभाव पड़े । यह वास्तव में भारतीय ज्योतिष का आधारभूत ढांचा बन गया । गर्ग संहिता में यवन को म्लेच्छ कहा गया । परन्तु उन्हें ज्योतिष आरम्भ करने के कारण ऋषिवत पूज्य कहा गया । वराहमिहिर ने अपनी पचसिद्धान्तिका में जिन पाँच सिद्धान्तों की चर्चा की है, उनमें 'पैतामह' को छोड़कर शेष चारों वसिठ, रोमक, पौलस, सूर्य यवन आचार्यों से सम्बन्धित हैं । रोमक और पौलस मिश्र यवनप्रधान सिकन्दरिया के यूनानी सिद्धान्तों से अनुप्राणित है । पौलस अलेग्जांद्रिनस की गिनती प्रमुख-प्राचीन आचार्यों में होती है । रोमक सिद्धान्त ने प्रचलित भारतीय युग विधान को नहीं माना । वह मध्याह्न की गणना सिकन्दरिया (यवनपुर) से करता है । पौलस सिद्धान्त यवनपुर और उज्जयिनी (भारत का तत्कालीन ग्रीनविच) की दूरी देशान्तर में देता है। सूर्य सिद्धान्त, रोमक और पौलस के एकीकरण और उनका इस रूप में भारतीयकरण है ।

भारतीय राजदरबारों में भविष्य कथन की बाबुली परम्परा ग्रीकों से प्राप्त हुयी । इसकी प्रचलन-परम्परा स्थापित हुयी । क्रान्तिवृत्त का नाक्षत्रिक विभाजन, और ग्रीक राशिचक्र भारतीय ज्योतिष में आरम्भ हुआ । अब अक्षांश भेदांश (लम्बन) के सिद्धान्त और गणना-विधियाँ आरम्भ हो गयी । ग्रहणों

की गणना के लिए नयी विधियाँ इस काल में शुरू हुयी । नक्षत्रों और सौर उदयास्त का मानव पर प्रभाव और उनके फल का निरूपण होने लगा । दिनमान और वर्षमान की सही गणना होने लगी । ग्रहों के नामों पर सप्ताह के दिनों के नामों का चलन शुरू हुआ । इस काल मे ही यहूदी/ईसाई तिथिचक्र साप्ताहिक पंचांग स्वीकार हुआ । रोमन सम्राट कोस्तान्तीन (434 ई.) ने सप्ताह के वर्तमान दिनों को प्रचलित किया । रविवार को आराम का दिन माना गया ।

जन्मपत्र का कोई भारतीय नाम ज्योतिष में नहीं है । इसको ग्रीक नाम 'होराचक्र ' से ही जाना जाता है । वराहमिहिर में 'बृहत्संहिता' के एक खंड को 'होरा शीर्षक' दिया । उन्होंने 75 छन्दों के 'होराशास्त्र' की भी रचना की । उनके पुत्र पृक्षुयशा ने 'होरा-षट्पढाशिका' की रचना की । होरा का मूल ग्रीक 'होरस, (सूर्य) है, इसी से अंग्रेजी 'आवर' की व्युत्पत्ति हुयी । ज्योतिष में प्रयुक्त होने वाली शब्दावली में ग्रीक शब्दों का बाहुल्य है । इनमें प्रमुख इस प्रकार है- पणफर (एपान्यफोरा), आपोक्लिम (अपोक्लिम), हिबुक (हिपोगियोन), त्रिकोण, जामित्र, इक्वाल, इन्दुवार, इत्थशाल, ईराफ, नक्त, यमया, मणऊ, कम्यूल, गौरि कबबूल, खल्लासर, रद्द, दुफालिद्वत्थ, दुत्थोत्यदिवीर, लंवीर, कुल्थ, दुरेफ (अंतिम 16 योगो के नाम है ।)

आर्यभट्ट पहला व्यक्ति था, जिसने इस देश में सर्वप्रथम पृथ्वी को गोल माना, उसने इसकी परिधि की सही माप ज्ञात की । सिद्ध किया कि पृथ्वी अपनी धुरी पर धूमती है । सूर्य और चन्द्रग्रहणो के आधुनिक सिद्धान्त का निरूपण किया । वराहमिहिर ने ज्योतिष शास्त्र को तीन शाखाओं- तन्त्र (गणित और ज्योतिष), होरा (जन्म पत्र) और संहिता (फलित ज्योतिष) में बांटा । इन पर उनके 6 ग्रंथ हैं, गणित-ज्योतिष पर 'पंचसिद्धान्तिका' है । होरा का संबंध जन्मकालीन ग्रहों की सापेक्ष स्थितियों सहित जन्मपत्र तैयार करने और जातक के भविष्य बताने से था । लघु और 'बृहज्जातक' इसके प्रमाण हैं। उनकी 'बृहत्संहिता' वास्तव में ज्योतिष का 'विश्वकोश' है । ग्रह नक्षत्रों की गति, मनुष्य पर उनका प्रभाव, भूगोल, वास्तु, मूर्ति निर्माण, सरोवर-वाटिका निर्माण, नारी और पशु के विभिन्न संवर्ग, रत्न परीक्षा की इस ग्रंथ में चर्चा की गई है ।

विवाह लग्नादि के सम्बन्ध में वराहमिहिर की दो कृतियाँ 'बृहद्विवाह पटल' और 'स्वल्प विवाह पटल' हैं । राजाओं के अभियान सम्बन्धी शुभाशुभ फल और गणनाओं से संबन्धित इनकी रचना 'योग यात्रा' है । इनके पुत्र का फलित ज्योतिष पर अच्छा अधिकार था । उनका 'प्रश्न' और 'जातक' सम्बन्धी ग्रन्थ 'होराषट्पडचाशिका' महत्वपूर्ण है ।

25.4.4 पूर्व मध्य काल

आदि काल में गणित और ज्योतिष अपने चरमोत्कर्ष पर थे । पूर्व मध्यकाल में गणित और ज्योतिष दोनों ही क्षेत्रों में प्रगति को पर्याप्त त्वरण मिला । ब्रह्मगुप्त और महावीराचार्य ने गणित के क्षेत्र में पर्याप्त साहित्य-सर्जन किया । इन क्षेत्रों में पूर्व मध्यकाल के योगदान निम्नलिखित पंक्तियों में प्रस्तुत हैं ।

गणित - भारतीय संस्कृति के अवसान काल-खंड में गणितज्ञ ब्रह्मगुप्त का 'ब्रह्म सिद्धान्त' रचना प्रसिद्ध हुयी । इनकी दो अन्य कृतियां 'खंड खाद्य' और 'ध्यान ग्रह' हैं । इन्होंने जिन विषयों पर अनुसंधान किये उनमें प्रमुख इस प्रकार है वर्गमूल, घनमूल, त्रैराशिक, ब्याज, श्रेणी, ज्यामिति,

परिमेय, समकोणीय त्रिभुज, वृत्त के अवयव, ऋण और धन मात्रायें, शून्य, धन, सरल बीजीय सर्वसमिकायें, प्रथम-द्वितीय अंशों के अन्तरवर्ती समीकरण, साधारण समीकरणों पर भी ब्रह्मगुप्त ने काम किया । किन्तु चक्रीय चतुर्भुज पर इनके कार्य ने सभी को विशेष रूप से आकर्षित किया । महावीराचार्य की असीमाबद्ध संख्याओं के समाधान की क्रिया बड़ी विलक्षण थी । इस काल में अंकगणित के जिन प्रकरणों पर सिद्धान्त निरुपित हुए वे इस प्रकार हैं - अभिन्न गुणन, भागहार वर्ग, वर्गमूल, घन, घनमूल, भिन्न-समच्छेद भाग जाति, प्रभागजाति, भामानुबन्ध, भागमातृ जाति, त्रैराशिक, पंचराशिक, सप्त राशिक, नव राशिक भाण्ड- प्रतिभाण्ड, मिश्र व्यवहार, सर्वण गणित, प्रक्षेपल गणित, समक्रय-विक्रय गणित, श्रेणी-व्यवहार, क्षेत्र व्यापार, छाया व्यवहार, स्वांशानुबन्ध स्वाशापवाह, इष्टकर्म, दृष्टिकर्म, चितिघन, घनातिघन, एकपत्रीकरण, वर्ग प्रकृति, आदि ।

बीजगणितीय सिद्धान्तों के अध्ययन से पता चलता है कि इस युग में इन विषयों पर विशेष कार्य हुए ऋण राशियों के समीकरण, वर्ग समीकरण, एक वर्ग अनेक वर्ग समीकरण, वर्ग,धन और अनेक घात समीकरणों के हल, अंक पाश, संख्या के एकादि भेद और कुट्टक के नियम, केन्द्रफल ज्ञात करना, असीमाबद्ध समीकरण, द्वितीय स्थान की राशियों का असीमाबद्ध समीकरण, अर्दुच्छेद, त्रिकब्देद, लघुरिक्त गणित, अभिन्न राशियों का भिन्न राशियो में परिवर्तन ।

ज्योतिष शास्त्र में जिन रेखागणितीय सिद्धान्तों का निरूपण इस काल में हुआ, उनमें प्रमुख इस प्रकार है -

- समकोण त्रिभुज में कर्ण का वर्ग शेष दो भुजाओं के वर्गो के योग के बराबर होता है ।
- दो दिये गये वर्गो के योग और अन्तर के समान वर्गो की रचना ।
- वर्ग को आयत और आयत को वर्ग में परिवर्तित करना
- कर्णों द्वारा राशियो का वर्गमूल ज्ञात करना ।
- वृत्त को वर्ग और वर्ग को वृत्त में परिवर्तित करना ।
- शंकु और बर्तुल का घनफल ज्ञात करना ।
- विषमकोण चतुर्भुज के कर्णीनयन की विधि ओर उनके दोनों कर्णों के आधार पर भुज- साधन करना।
- त्रिभुज, चतुर्भुज, वृत्त का क्षेत्रफल ज्ञात करना ।
- सूची व्यास, वलय व्यास, वृत्तान्तर वृत का व्यास ज्ञात करना ।
- वृत्त की परिधि, वृत्त सूची और गोलक का घनफल ज्ञात करना ।

इस युग के गणित को भारत की सबसे अमूल्य निधि ' शून्य ' प्रमुख देन है । इसमें कोई शक नहीं कि ' शून्य ' का अस्तित्व वैदिक साहित्य में किसी न किसी रूप में अवश्य रहा है किन्तु, इसको शून्य (सिफर, जीरो) नाम तथा संकेतन 9वीं शताब्दी में मिला । इकाई के प्रारम्भ में दिया गया श्लोक यदि गणितीय परिप्रेक्ष्य में देखा जाय तो यह ' शून्य ' के अभिलाक्षणिक गुणों को ही अभिव्यक्ति देता है । ' शून्य ' सहित वर्तमान संकेतन पद्धति के लिए विश्व सदा भारत का ऋणी रहेगा ।

ज्योतिष - ज्योतिष स्कन्ध पंच -स्वरूप में सिद्धान्त और होरा पर पर्याप्त आधारभूत कार्य आदि काल में हो गया था । इसको पूर्व मध्यकाल में आगे बढ़ाया गया । तथा संहिता, प्रश्न और शकुन

के क्षेत्रों में आधारभूत ढांचे को स्थायित्व दिया गया । पूर्व मध्यकाल के प्रारम्भ में ग्रह गणित उन्नति की चरम सीमा पर था । अब इस शास्त्र का निर्माण स्वतन्त्र आकाश-प्रेक्षण के आधार पर होने लगा। इस काल में आदिकालीन ज्योतिष सिद्धान्तों को परिष्कृत किया गया । इसमें फलित ज्योतिष के संहिता और जातक भागों पर पर्याप्त साहित्य-सृजन हुआ। संहिता के अन्तर्गत आने वाले प्रश्न और शकुन को इस काल में स्वतन्त्र अस्तित्व प्राप्त हुए । इसके अतिरिक्त इस काल में सामुद्रिक शास्त्र (हस्त रेखा आदि) का उदय और विकास हुआ । इस पर भी पर्याप्त साहित्य लिखा गया । फलित ज्योतिष में शकुन और प्रश्न के अलावा अंग विज्ञान, स्वप्नविज्ञान, मुहूर्त-विज्ञान भी अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण ज्योतिष-अंग बने । इस काल. में ज्योतिष के क्षेत्र को व्यापक बनाया गया । इसमें सम्पूर्ण मानव- जीवन के विभिन्न पक्षों का निरूपण और समालोचना सम्मिलित किये गये सन् 771 में भारतीय ज्योतिषियों का एक प्रतिनिधिमंडल बगदाद गया । इसके परिणाम स्वरूप ' ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त' का अरबी में अनुवाद ' अक्ष सिन्द हिन्द' नाम से हुआ । इस सिद्धान्त पर अनेक चर्चायें हुयी । इस पर इन विद्वानों ने अनेक व्याख्यान किये । इस ग्रन्थ के आधार पर इब्राहिम इब्रहबीव अलफजारी ने चान्द्रवर्ष की व्याख्या के लिऐ सारणी निर्मित की । इसके आधार पर भारत के युगमान के अनुकरण से हजारों लाखों अरबी युग प्रणाली पर कई ग्रंथ लिखे गये ।

सन् 600 - 700 ई. काल में प्रश्न अंग पर पर्याप्त विचार होने लगा था । जैन- ज्योतिष में ज्योतिष के इस क्षेत्र का पांचवीं शताब्दी तक पर्याप्त विकास हुआ । किन्तु यह मनोवैज्ञानिक पुट लिए हुए है । ग्रीको के समर्थन से आदि मध्यकाल में जिस प्रश्न- शास्त्र का विकास हुआ, वह जैन- शास्त्र से भिन्न था । सातवीं और आठवीं सदी 'चन्द्रोन्मीलन ' नामक प्रश्न ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध हुआ । भारत में इसके आधार पर ' केवल-प्रश्न पद्धति' का सन्धान हुआ । कुवलयमाला ने संवत् 699 (संवत् 700 में एक दिवस कम) में सामुद्रिक और ज्योतिष पर अपनी कृति ' उद्योतन सूरि' को इतिश्री दी । इसमें सामुद्रिक ज्योतिष के साथ साथ विभिन्न राशियों में जन्म लेने वाले व्यक्तियों के गुणों और भविष्य फल पर विस्तृत चर्चा की गई है ।

आदि मध्यकाल के प्रमुख ज्योतिषी इस प्रकार है - ब्रह्मगुप्त (ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त, खण्डखाद्यक, लवण मुष्ठी), मुंजाल (लघुमानस), महावीराचार्य (गणित सार संग्रह, ज्योतिष पटल), भट्टोत्युल (वराहमिहिर, पृथुयशा और ब्रह्मगुप्त की कृतियों पर टीकायें), चन्द्रसेन (विशाल काय-केवलज्ञान होरा), श्रीपति (टीका तिलक), श्रीधर (संस्कृत में गणित सार और ज्योतिर्विज्ञान) विधि तथा कन्नड में जातक तिलक) भट्टवोसारि (आयज्ञान- तिलक), भोजराज, ब्रह्मदेव, आदि ।

25.4.5 उत्तर मध्यकाल

इस युग में गणित के गोल विषय पर अधिक ध्यान दिया गया । पूर्व गणितीय साहित्य पर प्रभावी टीकायें लिखी गयी । ज्योतिष शास्त्र का भी इसमें पर्याप्त विकास हुआ । इस काल में लब्ध प्रतिष्ठित गणितज्ञ ज्योतिषाचार्य भास्कराचार्य हुए, उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त, लल्ल आदि के सिद्धान्तों की आलोचना की । उन्होंने गोल विषय के गणित को ज्योतिष में अभिकेन्द्रीय महत्त्व दिया । उनके अनुसार इस गणित में अनभिज्ञ ज्योतिषी मूर्ख समझा जाना चाहिए । इस काल में पृथ्वी को ।स्थिर और सूर्य को गतिशील माना गया । इसमें पृथ्वी की आकर्षण शक्ति को पतन के रूप में स्वीकार किया गया । आकाशीय पिण्डों सहित सभी पदार्थों में उपर्युक्त शक्ति के कारण केन्द्राभिकर्षण

शक्ति तथा केन्द्रापसारणी शक्ति को पाया गया । इनसे पदार्थ की क्रियात्मक शक्ति अपना कार्य करती है ।

गणित : - भास्कराचार्य ने गोल विषय के गणित पर सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य किया । । इस काल में ग्रहगणित के सभी अंगों में संशोधन हुए । लम्बन, नीति, आयनबलन, आक्ष बलन, आयनदृक्कर्म, आक्षदृककर्म, भूभाबिम्ब साधन, ग्रहस्पष्टादि के गणित हद्वारा साधित ग्रहों के मिलान आकाश-प्रेक्षण द्वारा प्राप्त ग्रहों से किया जाने लगा । 'सिद्धान्त शिरोमणि' में भास्कराचार्य ने पूर्ववर्ती गणितीय सिद्धान्तों में संशोधन कर बीजसंस्कार निर्धारित किये । गणित में वृत्त, पूस घनफल, गुणोत्तर श्रेणी, अंकपाश, करणी वर्ग, वर्ग प्रकृति, योगान्तर द्वारा कनिष्ठ ज्येष्ठानयन एवं सरल कल्पना द्वारा एक और अनेक वर्ण मानायन आदि इनके अतुल ज्ञान के द्योतक हैं ।

राजादित्य (लगभग 1120 ई.) को कन्नड़ साहित्य में गणित का ग्रन्थ लिखने वाला पहला विद्वान माना जाता है । इन्होंने अंकगणित, बीजगणित और रेखागणित तीनों में व्यापक अध्ययन किये । इनके गणित का ग्रह-गणित में अत्यधिक उपयोग है । इनके द्वारा रचित कन्नड़ भाषी व्यवहारगणित, क्षेत्रगणित, व्यवहार रत्न, जैन गणित, सूत्रटीकोदाहारण, चित्रसुत्रे, लीलावती प्रमुख उपलब्ध ग्रंथ हैं । महैन्द्र शुरी ने नाड़ी वृत्त के धरातल में गोल पृठस्थ सभी वृत्तों का परिणमन कर 'यन्त्र-राज' नाम का ग्रह-गणित ग्रन्थ लिखा । मल्लरि ने वक्र केन्द्राश ज्ञात करने के लिए स्पष्ट समीकरण सूत्रबद्ध किया ।

ज्योतिष - इस काल में ग्रह गणित के सभी अंगों में संशोधनर किये गये । उनमें सूक्ष्मता लाने के प्रयास किये गये । इस युग की एक प्रमुख विशेषता ज्योतिषीय यन्त्र निर्माण रहा । भास्कराचार्य और महेन्द्र सूरि ने अनेक यन्त्रों के निर्माण की विधि और यन्त्रों द्वारा ग्रह बेध की प्रणाली का निरुपण सुन्दर ढंग से किया । इस काल मे अनेक करण ग्रन्थ तथा सारणियाँ लिखी गयीं । ग्रह लाघव, करण कुतूहल, मकरन्द जैसे करण ग्रन्थों की रचना ने इस काल खंड को अति गौरवान्वित किया । फलित ज्योतिष में जातक, मुहुर्त, सामुद्रिक, रमल और प्रश्न पर पर्याप्त साहित्य-सृजन हुआ ।

मुस्लिम संस्कृति के सम्पर्क के कारण ज्योतिष के नये क्षेत्र रमल और ताजिक इस काल में खुले । ताजिक अरबी शब्द हैं । इस पर लगभग दो दर्जन ग्रन्थ लिखे गये । यह वर्ष फल और मास फल का शास्त्र है । वर्ष-फल में पोषण योगों के नाम इकबाल आदि ज्यों के त्यों अरबी नाम ही रहे। इस विद्या को ताजिक शास्त्र कहते हैं । कुछ विद्वानों का मत है कि अरबी विद्वान ताजिक इसको भारत लाये इसलिए इसका नाम ताजिक पड़ा ।

इस युग में ज्योतिष के प्रश्न अंग का भी पर्याप्त विस्तार हुआ । आचार्य दुर्गदेव (ई. 1089) ने रिष्ट समुच्चय नामक ग्रन्थ में अंगुलि प्रश्न, अक्त प्रश्न, गोरोचन प्रश्न, प्रश्नाक्षर प्रश्न, शकुन प्रश्न, अक्षर प्रश्न, होरा प्रश्न, लग्न प्रश्न जैसे 8 प्रश्न-प्रकारों का प्रतिपादन किया । भुवन दीपक (वि. स. 1294) ने 'भुवन दीपक' नामक 170 श्लोकों का छोटा सा ग्रन्थ लिखा । यह प्रश्न-शास्त्र की उत्कृष्ट कृति है, 'ज्ञान प्रदीपिका' गूढ मानसिक प्रश्नों के उत्तर देने की प्रक्रिया पर एक अनूठा ग्रन्थ है । लग्न को आधार मानकर कई प्रश्न-ग्रन्थ लिखे गये ।

इस काल में अरबों और अन्य विदेशियों के सम्पर्क से भारत में रमल का प्रचार हुआ । संस्कृत भाषा मे भी 5 - 7 ग्रंथ रमल साहित्य पर उपलब्ध है, ' नमल नवरत्नम' ग्रन्थ में पाशा बनाने की

विधि और उसकी 16 शक्लों की विवेचना है । सीताराम नामक विद्वान (1314 ई.) ने रमल सार नामक ग्रन्थ संस्कृत में लिखा । मद्रास विश्वविद्यालय की ग्रन्थ सूची में यह है । किन्तु, अभी मुद्रित नहीं है । नसीरुद्दीन (1246 ई.) के दरबार में रमल के अच्छे विद्वान थे । किंवदन्ती है कि बहलोल लोदी के दरबार का एक रमल विद्वान मूल प्रश्नों के उत्तर देने में सिद्धहस्त था ।

उदयकाल से पूर्व मध्यकाल की अवधि में मुहूर्त साहित्य सहिताशास्त्र का अंग रहा । उत्तर मध्यकाल मे इस पर स्वतन्त्र साहित्य का सृजन होने लगा था । केशवाचार्यकृत 'मुहूर्त तत्त्व' (शकाब्द 1420), नारायण कृत ' मुख मार्तण्ड' (शकाब्द 1413), रामभट्टकृत ' मुहूर्त चिन्तामणि (श. 1522) विट्ठल दीक्षित कृत 'मुहूर्त कल्पद्रुम' आदि इस ज्योतिष साहित्य की निधि हैं ।

इसके अतिरिक्त शकुन- शास्त्र भी इस युग में स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में विकसित हुआ । वि. स. 1232 में अह्विलपट्टण के नरपति नामक कवि ने 'नरपतिजयचयी' नामक शुभाशुभ फल बोधक अपूर्व ग्रन्थ लिखा । इसमें प्रमुख रूप से स्वर-विज्ञान द्वारा शुभाशुभ फल का निरूपण किया गया है । बसन्तराज कृत 'बसन्तराज शकुन' इस ज्योतिषांग की महत्त्वपूर्ण कृति है । इसमें प्रत्येक कार्य के पूर्ण होने वाले शुभाशुभ शकुनों का प्रतिपादन आकर्षक ढग से किया गया । जैन साहित्य में भी ' शकुन' पर पर्याप्त रचनायें उपलब्ध हैं । शकुन शास्त्र के मूल तत्व तो आदिकाल से ही भारतीय ज्योतिष में उपस्थित थे । इस काल खंड में इन्हीं तत्त्वों की स्वतन्त्र रूप में विवेचनाएं की गयी । यदि संक्षेप में उत्तर मध्यकाल के ज्योतिष ज्ञान पर सूक्ष्म टिप्पणी की जाय तो यही कहा जावेगा कि इसमें गणित ज्योतिष की अपेक्षा फलित-ज्योतिष कर स्वतन्त्र साहित्य का सृजन और प्रसार हुआ ।

इस काल की प्रमुख अन्य रचनायें और उनके रचनाकार इस प्रकार है. - अर्धकाण्ड और रिट्ठ समुच्चय (दुर्गदेव 1032 ई.), शुभाशुभ मुहूर्त सम्बन्ध में' आरम्भ' सिद्धि (उदयप्रभ देव 1220 ई.), ' अद्भुत सागर' (बल्लाल सेन 1168 ई.), 'भवन - दीपक' (पदमप्रभु सूरी वि. स. 1326), 'यन्त्र-राज' (महेन्द्र सूरि शकाब्द 1192), 'मकरन्द' (मकरन्द श 1400), 'ग्रह कौतुक' वर्ष ग्रहसिद्धि, 'जातक पद्धति',' ताजिक पद्धति', 'मुहुर्त तत्व (केशव, 1456 ई.), ' लघुतिथि चिन्तामणि' ' ग्रह लाघव',' सिद्धान्त शिरोमणि टीका', 'लीलावती टीका', 'मुहूर्त तत्व टीका, आदि (गणेश 1517),' जातक भरण ' (ढाण्ढिराज 1541 ई.), 'ताजिक नीलकण्ठी (नील कण्ठ 1556) ', 'मुहूर्त चिन्तामणि (रामदैवज्ञ 1565 ई.) ', 'मुहूर्त मार्तण्ड (नारायण 1571 ई.) एवं सूर्य सिद्धान्त की ' गूढार्थ प्रकाशिका ' (रंगनाथ 1575 ई.) ।

25.4.6 आधुनिक काल

भारतीय कला, विज्ञान, साहित्य, राजनैतिक उथल-पुथल से इस काल में सर्वाधिक रूप प्रभावित हुआ । इसमें मुगल सत्ता का जहा उत्थानपतन हुआ पाश्चात्य राजनीति और संस्कृति का भारत में प्रवेश और प्रभाव हुए। फलस्वरूप अन्य कला और विज्ञानों की भांति गणित और ज्योतिष में मौलिक कार्यो पर लगभग विराम सा लग गया । शिक्षा-प्रक्रम में भी नवीनकरण हुआ । स्कूलों की प्रथा आरम्भ हुयी । औपचारिक शिक्षा में नये नये विषय आये । पाश्चात्य गणित और ज्योतिष का पदार्पण हुआ। पाश्चात्य ज्योतिष गणित का एक भाग बन कर विश्वविद्यालयी शिक्षा में पढ़ाया जाने लगा । जबकि परम्परागत भारतीय गणित पुस्तकों में बन्द हो - गया । भारतीय ज्योतिष हिन्दू पण्डितों के लिए व्यावसायिकता का आधार बन गया । इस काल में परम्परागत ज्योतिष में केवल फलित ज्योतिष ही व्यावहारिक बना । मौलिक अध्ययन समाप्त हो गये ।

गणित : - अर्वाचीन काल में भारत में प्रमुख गणितज्ञ इस प्रकार हैं

रामानुजन. श्रीनिवास (1887 - 1920) - विलक्षण प्रतिभा के धनी रामानुजन का जन्म मद्रास के तन्त्जौर जिले के कुम्बकोनम नगर में हुआ । इनमें विलक्षण स्मरण शक्ति थी, 12 वर्ष की अवस्था में ही उन्हें बाल विद्वान घोषित किया गया था । चौथी कक्षा में ही वे त्रिकोणमिति जैसे विषय का गहन अध्ययन करने लगे थे । उन्होंने कई सूत्रों का स्वयं ही प्रतिपादन किया । सन् 1973 में रामानुजन ने कैंब्रिज विश्वविद्यालय के प्रो. हार्डी को अपनी 120 प्रमेय (theorems)

भेजी । हार्डी उनसे बहुत प्रभावित हुए । उन्होंने इनके प्रकाशन की व्यवस्था की । हार्डी के सहयोग से वे सन् 1914 में इंग्लैंड गये । जहाँ उन्होंने गणित में अनुसन्धान किये । इनको रायल सोसायटी का फैलो चुना गया । कई गणितीय अनुसंधानों में रामानुजन के संख्या सिद्धान्त, पार्टीशन -सिद्धान्त, सतत भिन्नों का सिद्धान्त गणित में महान् योगदान है ।

साहा डा. मेघनाथ (1893 - 1956) - ढाका-पूर्वी बंगाल में जन्मे डा. साहा की गणित में उच्च शिक्षा कलकत्ता विश्वविद्यालय में हुयी । उनपर आचार्य प्रफुल्लचन्द राय और जगदीशचन्द्र बोस का प्रभाव पड़ा । कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्रोफेसर के पद पर रहते हुए उन्होंने गणित में अनुसधान किया । 1919 में यूरोप भ्रमण में वे विश्व के महान् वैज्ञानिकों के सम्पर्क में आये । उन्होंने सापेक्षवाद, क्वाण्टम सिद्धान्त, परमाणुओं के आयनित सिद्धान्त पर कार्य किये । इसके लिए उन्हें रायल सोसायटी की सदस्यता मिली । उनकी अध्यक्षता में कलेण्डर सुधार समिति गठित की गयी । इस समिति के द्वारा प्रस्तावित कलैण्डर को 22 मार्च 1957 से देश के राष्ट्रीय कलेण्डर के रूप में अपना लिया गया।

बोस, डा. सत्येन्द्रनाथ (1894) - इनका जन्म कलकत्ता में हुआ । 1915 में कलकत्ता विश्वविद्यालय से एम. एस.सी. करने के बाद 1924 में यूरोप गये । 1926 मे पेरिस स्थित मैडम क्यूरी की प्रयोगशाला में अपने कार्य से उन्होंने क्यूरी सहित सभी को चकित किया । उन्होंने ढाका और कलकत्ता विश्व विद्यालयों में भौतिकी और प्रयुक्त गणित में अनुसन्धान किये । डा. बोस ने आइन्सटाइन की उस यूनीफाइड थ्योरी को विकसित करने में सहायता दी । जिसमें गुरुत्वाकर्षण, विद्युत-चुम्बकयिता और क्वाण्टम रचना के नियम संयुक्त हैं । डा. बोस गणित की लगभग सभी शाखाओं में पारंगत थे । दो सौ वर्ष पूर्व प्रसिद्ध गणितज्ञ गौस द्वारा साइक्लोटॉमिक समीकरणों पर छोड़े गये कार्य पर उन्होंने आगे काम किया ।

गणेश प्रसाद (1876 - 1935) : - इनका जन्म उत्तर प्रदेश के बलिया जिले में 15 नवम्बर 1876 को हुआ। इनकी उच्च शिक्षा इलाहबाद, कैंब्रिज और गटिंगेन (जर्मनी) में हुयी । वे उत्तर प्रदेश के 'विश्वविद्यालयों और कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्रोफेसर रहे । इन्होंने सन् 1918 में बनारस मैथेमैटिकल सोसायटी की स्थापना की । विभवों, वास्तविक चल राशियों के फलनों, फूरिए श्रेणी और तलों आदि पर इनके 52 शोध पत्र और 11 पुस्तकें हैं । इनकी कृति ' आन दि कॉस्टिदयूशन ऑव मैटर ऐंड ऐनालिटिकल थयोरीज ऑव हीट' विश्व प्रसिद्ध है ।

इसके अलावा इलाहबाद विश्वविद्यालय के दिवंगत गणितज्ञ डा. गोरख प्रसाद ने विश्वविद्यालय स्तर के लिए गणित के सभी प्रचलित विषयों पर अनेक पाठ्य पुस्तकें लिखकर भारतीयों को इस दिशा में नेतृत्व प्रदान किया। विभिन्न उपयोगी विषयों पर भी उन्होंने पुस्तकें लिखी । इन्होंने आधुनिक वैज्ञानिक अन्वेषणों के आधार पर ' 'एक विशाल सौरपीरवार' ' पुस्तक ज्योतिष पर लिखी।

ज्योतिष - इस काल में ज्योतिष का विकास कम ही नहीं हुआ । अपितु, इस पर विराम लग गया । इतना ही पर्याप्त नहीं, भारतीय ज्योतिष के प्राचीन ज्ञान को संरक्षित करना भी कठिन हो गया । इसका हास होने लगा । इस काल में ज्योतिष के प्रचलित फल पक्ष का ही लाभ उठाने के प्रयास अधिकाधिक रूप से होने लगे । ज्योतिष का संहिता पक्ष तो लगभग लुप्त होने की स्थिति में पहुँच गया । ज्योतिष के मौलिक तत्त्वों को भुलाकर भविष्य फल, तन्त्र-मन्त्र, शकुन प्रश्न के नाम पर अन्धी कमायी की प्रथा चल पडी । आधुनिक ज्योतिष और प्राचीन भारतीय ज्योतिष के समन्वय से इसको एक विज्ञान के रूप में विकसित करने के लिए प्रयास होने चाहिए ।

इस काल खंड में कुछ प्रयास ज्योतिष के विकास की दिशा में हुए । इसमें शकुन प्रश्न मुहुर्त जन्मपत्र, वर्ष पत्र के साहित्य में वृद्धि तो हुयी, किन्तु, अनुसन्धान नहीं हुए । इनके नाम पर व्यावसायिकता बढ़ी । कमलाकर भट्ट ने सूर्य सिद्धान्त पर आधारित 'सिद्धान्ततत्वविवेक' गणित- ज्योतिष पर महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा ।

सन् 1780 में जयपुर के महाराज जयसिंह ने काशी, जयपुर, दिल्ली आदि स्थानों पर वेधशालायें बनवायीं । इनमें **ज्योतिष-**पिण्डों के अध्ययन के लिए बड़े -बड़े यन्त्र स्थापित किये । वे स्वयं ज्योतिष के प्रकाण्ड विद्वान थे । उन्होंने यूरोप की प्रचलित तारा-सूचियों में कई त्रुटियाँ निकाली । सामन्त चन्द्रशेखर ने अपने बुद्धिकौशल से ग्रहवेध द्वारा प्राचीन गणित-ज्योतिष के ग्रन्थों में संशोधन किये। अपने नवीन सिद्धान्तों के हारा उन्होंने विभिन्न ग्रह-गतियाँ बतलायी ।

बापूदेव शास्त्री व पं. सुधाकर द्विवेदी ने आधुनिक बीजगणित, रेखागणित और त्रिकोणमिति का लाभ भारतीय ज्योतिष को पहुँचाने की दिशा में प्रयास किये । केतकी महोदय ने अंग्रेजी ग्रहगणित और भारतीय गणित के सिद्धान्तों के समन्वय से "केतकी ग्रह - गणित" की रचना की । डा. सम्पूर्णानन्द ने कापर्निकस, जिओईनो, गैलेलियो, केपलर आदि के अध्ययनों पर आधारित ज्योतिर्विनोद' पुस्तक लिखी । डा. महावीर प्रसाद श्री वास्तव ने सूर्य सिद्धान्त का आधुनिक सिद्धान्तों के आधार पर विज्ञान भाष्य लिखा ।

अर्वाचीन भारत के अन्य प्रमुख ज्योतिषाचार्य इस प्रकार है - मुनीश्वर (शकाब्द 1568- सिद्धान्त सार्वभौम), दिवाकर (1606 ई. जातक पद्धति और टीकायें), नित्यानंद (1639 ई- सिद्धान्तराज), महिमोदय (वि. स... 1722- ज्योतिष रत्नाकर, गणित साठ सौ, पचांगानयन), मेघविजयगणि (वि. सं. 1737 मेघमहोदय-वर्षबोध, उदयदीपिका, रमल शास्त्र, हस्त संजीवन), उभय कुशल (वि. स. 1737- विवाह पटल, चमत्कार-चिन्तामणि), लब्धिमचन्द्रमणि (वि. सं. 1751 -जन्मपत्री पद्धति), बाघजी मुनि (वि. सं. 1783-तिथि सारणी), यशखत सागर (वि.स. 1762-यशोराज पद्धति), जगन्नाथ सम्राट (इजास्ती का संस्कृतानुवाद-महाराजा जयसिंह के सभा पण्डित), बापूदेव शास्त्री (1821 ई-गणित-ज्योतिष पर पुस्तकें), नीलाम्बर झा (1823 ई-गोल प्रकाश), सुधाकर द्विवेदी (1860 ई-ज्योतिषीय भाष्य और टीकायें)

25.5 इकाई सारांश

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक काल से लेकर आज तक भारत में गणित एवं ज्योतिष के क्षेत्र मे निरन्तर प्रगति हुई । अगर वैदिक काल की गणित एवं ज्योतिष ने विश्व को कई नई देनें दीं तो आज भी भारत के गणितज्ञ विश्व स्तर पर अनेक सम्मान प्राप्त कर रहे हैं । वराहामिहिर व

आर्यभट्ट जैसे विद्वानों ने गणित को एक स्वतन्त्र विषय के रूप में सम्मान दिलाया । इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि अगर भारत ने दशमलव पद्धति को विश्व को दिया तो होरा पद्धति बाहर से ली । भारतीय ज्योतिष यूनान, बाबुल व रोमन पद्धतियों से बहुत प्रभावित है । बल्कि ज्योतिष का निखार ही बाह्य संपर्कों के कारण आया । ये दोनों क्षेत्र हैं जिनमें मध्यकाल में भी पूरी तरक्की हुई । अरबों का इसमें विशेष योगदान है । 18वीं शताब्दी में जयपुर नरेश सवाई जयसिंह ने ज्योतिष के क्षेत्र में उल्लेखनीय अनुसंधान कराये । अर्वाचीन काल में रामानुजन, मेघनाथ साहा जैसे विद्वानों के कारण गणित के क्षेत्र में तो प्रगति जारी रही, लेकिन, ज्योतिष के क्षेत्र में रुक गयी । बल्कि ज्योतिष को वैज्ञानिक स्तर पर लाने के लिये नये सिरे से प्रयास करने होंगे ।

25.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

(अ) निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिये ।

(1) अथर्ववेद का गणित एवं ज्योतिष में क्या योगदान है7

(2) 'होरा पद्धति' कहां से प्रारम्भ हुई एवं भारत में इसका क्या स्थान है7

(3) अर्वाचीन काल में दो प्रसिद्ध गणितज्ञों के योगदान की विवेचना कीजिए ।

(ब) निम्न प्रश्नों का उत्तर 500 शब्दों में दीजिये ।

(1) वैदिक काल में गणित एवं ज्योतिष की प्रगति कहाँ तक थी ?

(2) आदि व पूर्व मध्य काल में गणित की उल्लेखनीय प्रगति हुई । आप कहाँ तक सहमत हैं ?

(3) अर्वाचीन काल में ज्योतिष की वांछनीय प्रगति न होने के क्या कारण हैं ?

25.7 प्रासंगिक पठनीय ग्रन्थ

1. ए.एल. बाशम, दी वण्डर्स देट वाज इंडिया ।
2. डी. पी. चट्टोपाध्याय, साइन्स एण्ड सोसायटी इन एनशियन्ट इंडिया ।
3. विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी में आधार पाठ्यक्रम कोटा खुला विश्वविद्यालय कोटा ।

इकाई 26 "भारतीय औषध"

इकाई की रूपरेखा

26.0 इकाई के लक्ष्य

26.1 प्रस्तावना

26.2 हड़प्पा युग

26.3 वैदिक काल

- 26.3.1 अथर्व वेद
- 226.3.2 उत्तर वैदिक औषध

26.4 परम्परागत व्युत्पत्तियाँ

26.5 संहिता काल

- 26.5.1 औषधीय अभिज्ञान की अभिवृद्धि मे
- 26.5.2 आयुर्वेद की परिभाषा
- 26.5.3 मानव शरीर के सिद्धान्त
- 26.5.4 निदान
- 26.5.5 उपचार
- 26.5.6 औषधकोश
- 26.5.7 शल्यकर्म

26.6 आयुर्वेद और भारतीय दर्शन की विचारधारायें वैषिका

- 26.6.1 आयुर्वेद और न्याय
- 26.6.2 आयुर्वेद और लोकायत

26.7 औषधीय व्याक्त

26.8 औषधीय शिक्षा

26.9 औषधीय सुविधायें

26.10 भारतीय और यूनानी औषध

26.11 पशुचिकित्सा औषध

26.12 मध्यकालीन भारतीय औषध

- 26.12.1 औषधीय साहित्य
- 26.12.2 औषधीय अनुदेशन
- 26.12.3 मध्यकालीन भारत में आयुर्वेद की स्थिति
- 26.12.4 मध्यकालीन भारत में चिकित्सालय

26.13 यूरोपीय चिकित्सा

26.14 इकाई सारांश

26.15 अभ्यासार्थ प्रश्न
26.16 प्रासंगिक पठनीय ग्रन्थ

26.0 इकाई उद्देश्य

इस इकाई का प्रमुख लक्ष्य भारतीय औषध के विकास एवं उसके महत्व पर प्रकाश डालना है ।

(1) पूर्वकालीन चरणों में भारतीय औषध मायावी-धार्मिक थी ।
(2) तदनन्तर यह आनुभाविक-विवेकशील व्यवस्था में परिवर्तित हुई - आयुर्वेद
(3) औषधीय अनुदेशन और सुविधाओं की प्रकृति पर भी प्रकाश डाला गया है ।
(4) मध्यकालीन भारत यूनानी पद्धति के प्रचलन का दर्शक रहा है ।
(5) भारतीय औषध अन्ततः: किस अवस्था तक पहुँची है ।

26.1 प्रस्तावना

मानव सभ्यता का विकास उसकी चिकित्सा से बहुत जुड़ा हुआ है । जहाँ मानव ने अपने जीवन को सुव्यवस्थित गति देने के लिये आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक क्षेत्र में अनेक प्रकार की संरचनाएं की वहीं अपने जीवन को स्वस्थ एवं दीर्घ बनाने के लिये सतत प्रयत्न करता रहा । भारत में ये प्रयत्न हमारी प्राचीन सभ्यताओं के काल से ही प्रारम्भ हो जाते हैं । शुरू में यह विश्वास रहा है कि व्याधियाँ भी प्रकृति के प्रकोप का कारण हैं और उस पर मानव का वश नहीं । इस कारण प्रकृति की हर ढग से आराधना की गयी । पर साथ ही प्रकृति की देन फल, पत्ते, जड़ी बूटियाँ आदि पर भी शोध किया गया और आयुर्वेद प्रथा का विकास प्रारम्भ हुआ । भारतीय पद्धतियों में इस बात पर अधिक बल दिया गया कि स्वस्थ रहने के लिये शरीर व मन दोनों पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है । अब हम इस अध्याय में भारतीय सभ्यता में चिकित्सा पद्धतियों के क्रमश: विकास का उल्लेख करते हैं ।

26.2 हड़प्पा या सिन्धु- सरस्वती काल

भारतीय औषध की कहानी सिन्धु -सरस्वती काल से प्रारम्भ हो जाती है मोहन जोदड़ो, कालीवंगा हड़प्पा, रोपड़ एवं लोथल आदि स्थलों पर उत्खनन में स्वच्छता सम्बन्धी सुविधाऐं, उच्च स्तरीय स्नानगृह, निकास नालियों, ताजे पानी के हौज, मलगर्त आदि सामने आये हैं । इन दो स्थलों पर चिकित्सकीय पदार्थ भी पाये गये हैं । कोयले की भाँति काला पदार्थ जोकि पानी में गहरे भूरे रग का घोल बनाता है, शिलाजीत के रूप में पहचाना गया है । कट्ल फिश अस्थियाँ को आन्तरिक रूप से सुधा वर्द्धक तथा बाह्य रूप से कान, आँख, गले, चर्म की बीमारियों में उपयोगी समझा गया, यह मृदभांडो में पाया गया है । हिरन और बारहसिंगा तथा कृष्णसागर मृग के सींगो को चिकित्सकीय गुणों के कारण महत्वपूर्ण समझा गया । पर साथ ही इस बात की कोई सूचना उपलब्ध नहीं है कि हड़प्पा युगीन बीमारी को मायावी- धार्मिक अथवा प्राकृतिक घटना मानते थे ।

26.3 वैदिक काल

ऋग्वेद में व्याधि का प्रासंगिक उल्लेख हुआ है । किन्तु यह अथर्ववेद ही है, जिसमें वैदिक औषध पर जानकारी उपलब्ध है । सभी चारों वेद- ऋग्, साम, यजु, अथर्व मानते हैं कि व्याधि का कारण अनिष्टकारी आत्मा है । जो कि आकार में अस्पष्ट, संख्या में अपरिमित और पिचाश राक्षस, अत्रिक्ष (Atrix), आदि नामों से जानी जाती है । कुछ व्याधियों को वरुण, अग्नि आदि महान् देवों से सम्बन्धित माना गया है । इन्हें पाप के लिए दण्ड माना गया है । ऋग्वेद में दीर्घ जीवन के लिए स्तुति हेतु अनेक स्त्रोत हैं । अश्विनियों को महान् व्याधि-निवारक माना गया है । उन्हें शल्य चिकत्साके विशेषज्ञ समझा गया है । वे दृष्टि शाक्ति का पुनरावर्तन कर सकते हैं । वे रोगियों और विकलांगों को रोगमुक्त करते हैं । उन्होंने च्यवन ऋषि को पुनर्याँवन प्रदान किया ।

26.3.1 अथर्व वेद

अथर्ववेद में रोगोपचार की व्याख्या की गयी है । इसमें चिकित्सा हेतु कर्मकाण्ड सुझाये गये हैं । इनमें बलि, मंगलहोम, नियम, प्रयाश्चित, उपवास और मन्त्रोच्चार प्रमुख हैं । जड़ी, बूटियों सहित कुछ औषधियों का उल्लेख हुआ है । इन्हें गण्डेताबीजों में उपयोगी बताया गया है । जिससे कि व्याधियों और दुश्मन के जादू टोने दोनों से सुरक्षा होती है । वे लौकिक नहीं अपितु अलौकिक रूप से प्रभावी होते हैं । जल को भी गुणकारी जीवनी शाक्ति बतलाया गया है । दुग्ध-उत्पादकों को उपयुक्त उपचार वाहक माना गया है ।

अथर्ववेद के मन्त्र में अस्थितिपंजर के विभिन्न भागों की गणना की गयी है । दूसरे मन्त्र में मानव शरीर के अन्य अंगों के सन्दर्भ हैं । हृदय और मस्तिष्क के सम्बन्ध के इसमें अस्पष्ट बोध है। बलि के अवसर पर पशुओं के चीरफाड़ की प्रक्रिया शरीर-रचना विज्ञान के अभिज्ञान में बहुत सहायक रही है ।

सांखायन ब्राहमण में यह स्मरण दिलाया गया है कि विशेष रूप से रोग ग्रस्तता ऋतुओं की संक्रान्ति में अधिक व्यापक होती है । इसमें दीर्घ जीवन की कामना की गयी है । मृतात्माओं को अर्पित की जाने वाली जलयुक्त मदिरा के 'उदकदान' धार्मिक अनुष्ठान के नियमों से शतायु भोगियों की उपस्थिति परिलक्षित होती है,

उत्तर साहित्य में वर्णित वायुओं (Vajous) के सिद्धान्त का अथर्व वेद में प्रच्छन उल्लेख हुआ है । मन्त्राभिचार का बाहुल्य इस साहित्य का प्रमुख गुण है । मन्त्रोच्चार या तो स्वय लाभार्थी व्यक्ति अथवा उसके लिए पंडित पुजारी द्वारा करने का प्रावधान है । पुजारी चिकित्सक या अथर्वण (Atharvan) राजा का सलाहकार रहता था । अथर्वण की स्तुति से तत्कालीन दो औषध व्यवस्थायें स्पष्ट होती हैं । जादू-टोना मन्त्रोच्चार की व्यवस्था और औषधि व्यवस्था । वैदिक औषध आदिम औषध नहीं अपितु जादुई-धार्मिक औषध थी । वैदिक औषध में जादुई-धार्मिक तत्वों और आनुभविक- युक्तियुक्त तत्त्वों में कोइ भिन्नता नहीं की गयी है । अथर्ववेद में हम सैकड़ों चिकित्सकों और हजारों जड़ी-बूटियों के बारे में पढ़ते हैं । स्पष्ट है कि उस काल में कई चिकित्सक और विस्तृत औषधकोश उपलब्ध थे। जो कि औषधियों से रोगों का उपचार करने में सहायक थे । एक मन्त्र के अनुसार अथर्ववेद में शरीर-रचना विषयक, शारीरिक क्रिया विज्ञान विषयक एवं रोगनिदान विज्ञानी विचार प्रतिबिम्बित होते हैं । जो कि न तो जादुई है और न ही धार्मिक ।

26.3.2 उत्तर वैदिक औषध

उत्तर वैदिक औषध को दो काल खंडों में विभाजित किया है । (1) 800-600 ई. पू. (2) औषधीय सम्प्रदायों के अभ्युदय से शास्त्रीय भारतीय औषध के अन्त तक । प्रथम काल खंड के लिए कोई औषधीय अभिलेख उपलब्ध नहीं' है । हमें औषधीय इतर स्रोतों पर निर्भर रहना पडता है । इनमें प्रमुख ब्राह्मण और उपनिषद् हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि औषध भूत-विद्या और सर्पविद्या तक सीमित रहे हैं । अथर्व वेद में गंडा-ताबीज, मंत्र-सम्मोहन और दीर्घ जीवन के लिए औषधियों के साथ इन दोनों का उल्लेख पाया गया है । इस काल में औषध की प्रकृति प्रमुख रूप से जादुई- धार्मिक थी । फिर भी इन वर्षों ने महान् बौद्धिक आन्दोलन और आध्यात्मिक क्रान्ति देखी जो कि जैन और बौद्ध मतों की स्थापना के पथ प्रदर्शक बने । यह वह युग था जिससे भारतीय षड्दर्शन का उद्भव हुआ । सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिका, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा (वेदान्त) । इन दार्शनिक और धार्मिक आन्दोलनों से औषध - अप्रभावित नहीं रहा । यहाँ परिवर्तन आभासी है । औषधीय व्यवस्था सम्मोहिनी पद्धति को तोड़कर स्वतन्त्र रूप से विकसित होने लगी । इस प्रकार, औषध की जादुई धार्मिक व्यवस्था से अनुभाविक-विवेकशील व्ववस्था की सक्रान्ति का शुभारम्भ हुआ ।

26.4 परम्परागत व्युत्पत्तियाँ

परम्पराओं से औषध का पौराणिक से अर्द्धपौराणिक होते हुए ऐतिहासिक क्रम तक सुराग मिलता है । एक परम्परा के अनुसार भारत ने आत्रेय (Atreya) को औषध विज्ञान तथा धन्वन्तरि (Dhanvantari) को शल्य-चिकित्सा विज्ञान सिखाया । एक अन्य परम्परा के अनुसार, जो कि बौद्ध जातकों में सुरक्षित है, बुद्ध के समय में काशी और तक्षशिला में दो विख्यात विश्वविद्यालय थे । इनमें अन्य शास्त्रों और विज्ञानों के साथ साथ औषध-विज्ञान प्रसिद्ध काया चिकित्सकों द्वारा पढ़ाया जाता था । सम्भवत: बुद्ध के समय में तक्षशिला में औषध के मुख्य आचार्य आत्रेय थे । सुश्रुत प्राचीन भारत के महान् शल्य चिकित्सक हुए हैं । सुश्रुत गाधिराज के पौत्र और विश्वामित्र के पुत्र थे । इन्होंने आदि आचार्य काशिराज धन्वंतरि दिवोदास से शिक्षा पाई थी । इनका रचित ग्रन्थ 'सुश्रुत-संहिता' आयुर्वेद का प्रमुख ग्रंथ माना जाता है । इसके पश्चात् भारतीय औषध का विकास दो प्रमुख धाराओं में हुआ- एक औषध और दूसरा शल्य चिकित्सा । ऐसा कहा जाता है कि आत्रेय ने छ: शिष्यों को औषध तथा धन्वन्तरी ने सुश्रुत सहित छ: शिष्यों को शल्य चिकित्सा विज्ञान पढ़ाया था । इनमें प्रत्येक शिष्य ने औषध और शल्य चिकित्सा पर अपने शिक्षण के आधार पर तन्त्र लिखे । इन विभिन्न तन्त्रों के अस्तित्व ने भिन्न भिन्न मतों को अभिव्यक्ति दी तथा इस काल में उपलब्ध ज्ञान को व्यवस्थित करने की आवश्यकता पर बल दिया । अनुवर्ती काल की सहिंताये इस कृत्यक को पूरा करने के प्रयास हैं ।

26.5 संहिता काल

भारतीय औषध में संहिता काल सृजनात्मक काल कहा जाता है । प्रमुख सहितायें इस प्रकार हैं - चरक संहिता, इसमें रोगों के विस्तृत संवर्ग दिये गये हैं तथा सुश्रुत संहिता, इसमें शल्य चिकित्सा की विवेचना की गयी है । इन संहिताओं में 'आयुर्वेद' से पुकारे जाने वाले औषध ज्ञान की निधि उपलब्ध है । आयुर्वेद औषध ज्ञान का संहिताकरण है । यह धर्म के साथ औषध के साहचर्य से औषध अधिक

वैज्ञानिक अभिक्रिया पद्धति में परिवर्तन को चिह्नित करता है । चरक और सुश्रुत दोनों आयुर्वेद को उपांग अथवा उपवेद के रूप में वर्णित करते हैं । जो कि अथर्ववेद से सम्बन्धित है । तथा इसको अपने औषधीय अभिज्ञान का स्रोत स्वीकार करते हैं । उपर्युक्त दो रचनाओं पर आधारित 'अष्टांग संग्रह' एक का औषधीय नियम पुस्तिका (Mannual) है । जिसको वागभट्ट (Vaghbhata) से सम्बन्धित कहा गया है । इन तीनों को वृद्दत्रयी कहा जाता है ।

साधारणतया यह स्वीकार किया जाता है कि चरक (प्रथम दो शताब्दी ई. सन्) और सुश्रुत (ई. सन् चौथी शताब्दी) के सार-संग्रह पूर्ण विकसित व्यवस्था के उत्पाद हैं । ये यूनानी हिप्पोक्रैटीज (Hippocrates) और गैलेन (Galan) से मिलते जुलते हैं । भारतीय औषध की दार्शनिक पृष्ठभूमि में चरक संहिता को सुश्रुत से अधिक श्रेस सर्वोत्कृष्ट दस्तावेज माना जाता है ।

26.5.1 औषधीय अभिज्ञान की अभिवृद्धि में योगदान करने वाले कारक

संहिएता काल में निम्नलिखित कारकों से औषधीय अभिज्ञान की अभिवृद्धि हुयी ।

1. योग और रहस्यवादी अनुभव के द्वारा मानव शरीर क्रिया विज्ञान में अभिरुचि की अभिवृद्धि।
2. ईसाइ धर्मप्रचारक की भांति बौद्ध बैरागो जनसाधारण में चिकिस्तक की भांति सेवा करता था, जिससे वह दान में भिक्षा मांगता था । उसको अपने तथा अपने साथी वैरागियों के स्वास्थ्य की देखभाल करनी पड़ती थो । बौद्धवाद का विवेकवाद की ओर झुकाव से पूर्वकालीन चिकित्सकीय जादू पर अविश्वास होने लगा ।
3. यूनानवादी सम्पर्क और भारतीय तथा क्लासिकल (Classical)औषध की समानता से औषध के विकास को उद्दीपन (Stimulus) प्राप्त हुआ । इसमें दोनों ग्रहण करने का सुझाव है ।

26.5.2 आयुर्वेद की परिभाषा

अपनी संहिता के आरम्भ में ही चरक ने आयुर्वेद को परिभाषित किया है । आयुर्वेद जीवन का विज्ञान कहलाता है । विज्ञान जो कि स्वाभाविक रूप में यह घोषणा करता है कि 'जीवन के लिए क्या तो लाभप्रद है और क्या पीड़ा कारक है । यह जीवन का विज्ञान (Life of Science) कहलाता हैं । शरीर, इन्द्रियों, मन और आत्मा का एकात्म संयोग ही 'जीवन' है । यह 'चेतन' है और 'पुरुष' कहलाता है । यह ऐसा विषय माना जाता है, जिससे स्वास्थ्य और रोग का अध्ययन किया जाता

26.5.3 मानव शरीर के सिद्धान्त

निदान और चिकित्सा का बड़ा भाग प्रारम्भिक द्रव्यों (भूतों और धातुओं) की अवधारणा पर आधारित है : वे प्राणी में व्याप्त हैं और उसके प्रकार्य का अनुरक्षण करते हैं । शरीर को पांच तत्त्वों का एकत्रीकरण (समुदाय) माना गया है । ये जल (आद), आन्त्र (तेजस), हवा (वायु), धरती (पृथ्वी) और व्योम (आकाश) हैं । इनके सहयोग से शरीर को बनाये रखने के लिए भूतों के उपातरों को धातु (शरीर के रचनांग) कहा जाता है । जब तक ये धातुएँ अपनी सामान्य स्थिति में होती हैं, शरीर के प्रकार्य सही तरह चलते रहते हैं । जब धातुएँ उचित समानुपातिक होती हैं, तो उन्हें 'साम्यावस्था' में कहा जाता है । यह स्थिति धातु साम्य (स्वास्थ्य) है । किन्तु, साम्यावस्था में विक्षोम से रोग (धातु वैसम्य) उत्पन्न होता है ।

26.5.4 निदान

इन्द्रिय विषयों के त्रुटिपूर्ण क्रियान्वयन, कमी या आधिक्य, जलवायु के ताप और लक्षणों तथा बुद्धि के दुरुपयोग से रोग उत्पन्न होते हैं । आयुर्वेद में रोगों का निदान कायरसों (दोषों) के मत पर आधारित है । कायरस प्रकृति के तीन प्रारम्भिक रूप-वात, पित्त, कफ हैं । कुछ लोग इसमें चौथा रक्त, शामिल करते हैं । रोगी की हालत जानने के लिए भूमि परीक्षा की जाती थी । सामाजिक अवस्थाओं जैसे भोजन सम्बन्धी आदतों, रहन-सहन की रुढ़ियों, स्वास्थ्य की सामान्य दशाओं पर भी विचार किया जाता था । त्रि-दोष सार्वभौमिक गुण धर्मो अथवा त्रिगुणों से सम्बन्धित हैं । ये क्रमश : सत्व, रजस और तमस की साहचर्य में हैं ।

शारीरिक क्रियायें पांच वायुओं द्वारा संचालित होती हैं । (1) उदान गले से निकलने वाली बोल (Speach) का कारण, (2) प्राण, हृदय में स्थिति जो कि श्वसन और भोजन को निगलने का कारण है, (3) समान, पेट की अग्नि को प्रज्वलित करने वाली जिससे भोजन पचता है तथा वह पाव्य और अपाव्य में विभक्त होता है, (4) अपान, उदर में यह उत्सर्जन और प्रजनन के लिए उत्तरदायी है तथा (5) ध्यान, यह शरीर और रक्त को गति प्रदान करता है । समान द्वारा भोजन के पाचन से अवशोषित आहार पदार्थ निर्मित होता है । यह हृदय और यकृत में प्रवृष्ट होकर सार रूप में रक्त में परिवर्तित होता है । आशिक रूप में रक्त मांस में परिवर्तित होकर परिवर्तन की प्रक्रिया चर्बी हड्डी, लेस (marrow), वीर्य की श्रृंखला में चलती है । ऐसा विश्वास है कि पचापचय (metabolism) की यह प्रक्रिया 30 दिनों की अवधि में पूर्ण होती है ।

26.5.5 उपचार

धातुओं की साम्यावस्था के अनुरक्षण हेतु आयुर्वेद ने आहार (डायट) निर्धारित किया है । हितकर खाद्य का उपयोग ही व्यक्ति की अभिवृद्धि का एकमात्र कारण है । जबकि पीड़ाकारक खाद्य रोग का कारण है । स्वास्थ्य और रोग दोनों ही स्थितियों में आहार को महत्त्वपूर्ण माना जाता है । इसमें दैनिक जीवन के लिए व्यापक नियमन (दिनचर्या) शामिल है । मन और आचरण के नियन्त्रण के लिए भी यह आवश्यक है । दैनिक व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए, जिससे धातुओं का सन्तुलन बना रहे । काया-चिकित्सक को रोग का उपचार आहार, जीवन- शासन और औषध से करना चाहिए । उपचार केवल धातुओं की साम्यावस्था के अनुरक्षण के ही लिए नही किया जाता, अपितु इनको असन्तुलित होने से बचाने एवं जब सन्तुलन में गड़बड़ी हो जाय तो उसको वापिस सन्तुलन की स्थिति में लाने के लिए भी किया जाता है ।

26.5.6 औषध कोश

प्राचीन भारत का औषधकोश बहुत बड़ा था । इसमें पशु-वनस्पति और खनिज उत्पाद, शामिल थे । यूरोप में समाविष्ट होने से भी बहुत पहले कई एशियाई दवाइयां ज्ञात थी । तथा उनका उपयोग होता था । इनमें प्रमुख चौलमुग्रा (chaulmugra) पेड़ का तेल है । यह परम्परागत रूप से कोढ़ के इलाज के लिए निर्धारित है । आज भी इस रोग के इलाज में यह आधार है । चरक ने औषधियो का विभाजन तन्त्र के विभिन्न अगों पर उनकी अनुमति क्रिया अथवा रोग के विशिष्ट लक्षणों के आधार

पर किया है । औषधि लेने का तरीका मुंह के द्वारा था । इसकी मात्रा की गणना रोगी की आयु के आधार पर की जाती थी ।

अन्य प्राचीन जनों की भाँति प्राचीन भारतीय चिकित्सकों का विश्वास था कि बुद्धि का स्थान हृदय है । उन्होंने रीढ़ के महत्त्व की अनुभूति की और तन्त्रिका तन्त्र के अस्तित्व को जाना । लाशों से सम्पर्क के निषेध ने शरीर रचना विज्ञान और प्राणिशास्त्र की प्रगति को बाधित किया । इसमें - चीड़फाड़ को हतोत्साहित किया गया है । फिर भी भारतीय शल्य-चिकित्सा का विकास हुआ ।

26.5.7 शल्यकर्म

चरक संहिता में शल्यकर्म पर कोई अनुभाग नहीं है । शल्यकर्म युद्ध से सम्बन्धित ज्ञान की शाखा रहा । यह सिविल (नागरिक) औषध विलग ही रहा । सुश्रुत ने शल्यकर्म का औषध के साथ विलय किया । सुश्रुत द्वारा प्राप्त सामान्य औषधीय प्रशिक्षण के एक अपरिहार्य तत्त्व के रूप में शल्यकर्म को सुश्रुत संहिता में प्रधान स्थान उपलब्ध हुआ । मानव शरीर रचना के सही बोध के लिए शल्यचिकित्सा अमूल्य थी । निदानात्मक उद्देश्यों के लिए सुश्रुत ने प्रत्यक्ष एंट्रिक प्रत्यक्षण के महत्व पर विशेष बल दिया । शिशु जनन के लिए सीजेरियन (Ceasarian) अनुभाग ज्ञात था । हड्डी जोड़ने का कौशल उच्च स्तर पर था । उस समय दुनिया के अन्य भागों में प्लास्टिक शल्य कर्म अन्य चीजों की अपेक्षा अधिक विकसित था । प्राचीन भारतीय शल्य चिकित्सक युद्ध में अथवा विकलांगता से या न्यायिक दण्ड के कारण सोये हुए अथवा घायल नाक, कान, होठों को ठीक करते थे, भारतीय शल्य चिकित्सा यूरोपीय शल्य चिकित्सा से बहुत आगे थी । ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शल्य चिकित्सकों ने भारतीयों से अनुनासिका प्लास्टी (नाक की प्लास्टिक सर्जरी) सीखी ।

26.6 आयुर्वेद और भारतीय दर्शन की विचारधारायें: वैशेषिका

चरक और वैशेषिका में घनिष्ट सम्बन्ध रहा । चरक का आरम्भ वैशेषिका संवर्गो (पदार्थो) अर्थात् द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष से होता है । चरक के अनुसार द्रव्य वह है जिसमें गुण और कर्म होते हैं तथा सभी प्रभावों के अपृथक्करणीय भौतिक कारण हैं । चरक की गुणों की गणना इस प्रकार है - ध्वनि, स्पर्श, रंग, ग्रन्थ, स्वाद । यान्त्रिक गुणों की दो सूचियां दी गयीं हैं - गुरुवदाय: परदया। पूर्ववर्ती में 20 गुण यथा शीत, ऊष्मा, ग्रन्थ आदि हैं । उत्तरवर्ती में 10 गुण यथा परा, अपरा आदि शामिल हैं । वैशेषिका में पहली सूची नहीं है । किन्तु, दूसरी सूची चरक की चिकित्सा परम्परा के अनुसार उपलब्ध है ।

चरक का सामान्य से अर्थ उन स्थूल वस्तुओं से है जो कि समान अभिलाक्षणिक गुण रखते हैं, जबकि विशेष से तात्पर्य उन स्थूल पदार्थो से है जो भिन्न अभिलाक्षणिक गुण रखते हैं । सामान्य और विशेष के सिद्धान्त आहार की विषयवस्तु और प्रयुक्ति की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं । समान अवयवों वाले पदार्थ एक दूसरे में वृद्धि करते हैं । अत: वात प्रकृति के पदार्थ वात की वृद्धि करते हैं । और कफ को कम करते हैं जो कि इनसे भिन्न हैं ।

26.6.1 आयुर्वेद और न्याय

आयुर्वेद भौतिक और तात्विक दृष्टिकोणों के निमित न्याय का ऋणी है । चरक के अनुसार निदान के तीन साधन हैं - (अ) आप्त वाक्य (अन्त: प्रेरित का अनुदेशन), (ब) प्रत्यक्ष, (स) अनुमान।

चरक न्याय के इस दृष्टिकोण को स्वीकार करता है कि मौखिक साक्ष्य का भी विचार किया जाना चाहिए। चिकित्सकीय व्यक्तियों द्वारा एक दूसरे के साथ वाद-विवाद में तर्कशास्त्र का उपयोग होता था । शास्त्रान्तर्गत वाद विवादो से चिकित्सकीय ज्ञान का प्रसार हुआ ।

26.6.2 आयुर्वेद और लोकायत

व्यवहारगत. कार्यप्रणाली का दर्शन भौतिकवादी दार्शनिक विचारधारा, जो कि लोकायत कहलाती है, के बहुत सम्मान है, इस विचारधारा के प्रतिपादक चर्वाक थे । यह विचार आगे विकसित नहीं हुआ। क्योंकि इसने पुनर्जन्म और आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार किया । यह ब्राह्मणवाद को स्वीकार नहीं हुआ । भौतिकवादी विचारधारा का विश्वास है कि शरीर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु से बना है । इस विचारधारा का दार्शनिक आधार आयुर्वेद जैसा ही है । चट्टोपाध्याय के अनुसार सभी संवेगों के रोगों के लिए सफल औषध निदेशों (नुस्खों Prescripiton) ने कर्म के नियम का खुलकर मजाक उड़ाया।

26.7 औषधीय व्यक्ति

वैदिक कालमें पुजारी काया चिकित्सकों का प्रचण्ड प्रभाव पर एकाधिकार था । अथर्ववेद में चिकित्सकीय व्यावसायियों के एक वर्ग का उल्लेख है । ऐसा लगता है कि इन दोनों में पारस्परिक प्रातेद्वन्द्विता थी । उत्तर वैदिक काल में, वेद जानने वाले ब्राह्मणों और काया चिकित्सकों की जाति के मध्य विवाद बढ़ गया । कायाचिकित्सकों की लोकप्रियता बढ़ने लगी । व्यावसायिक चिकित्सकों को ' अम्बस्थ' कहा जाता था । यद्यपि ब्राह्मणों ने चिकित्सकीय ज्ञान का संकेतीकरण किया तथापि उनकी चिकित्सा कर्म में अरुचि थी। यह बैरभाव अपस्तम्ब, गौतम, वशिष्ट और मनु की कृतियों में पाया जाता है । चिकित्सकों और सभी शिल्पियों की उपस्थिति को बलिदान की पवित्रता नष्ट करने वाला समझा जाता था । फिर भी, कायाचिकित्सक समाज का एक सम्मानजनक सदस्य था । राजा के पुजारी कायाचिकित्सक होते थे जो कि राजा को रोग और मृत्यु से बचाते थे । सुश्रुत के काल तक कायाचिकित्सक और पुजारी के प्रकार्य अलग हो गये थे । राजा का चिकित्सक युद्ध में सेना के शल्य चिकित्सक का कार्य भी करता था ।

हम जीवक, कश्यप जैसे विशेषज्ञों और निमि जैसे चक्षु शल्यचिकित्सक के बारे में पढ़ते हैं। सेना के कायाचिकित्सकों की ख्याति इतनी थी कि सिकन्दर ने भारतीय कायाचिकित्सको को अपने डेरे में एकत्रित किया, जिससे कि उनसे सर्प -दंश और बीमारियों का इलाज कराया जा सके ।

26.8 औषधीय शिक्षा

ब्राह्मणीय व्यवस्था में चरक द्वारा कहा गया है कि धार्मिक श्रेष्ठता, धन और आनन्द को अर्जित करने के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य औषध विज्ञान का अध्ययन कर सकते हैं । जबकि सुश्रुत का अभिमत है कि अच्छे परिवार और चरित्र के शूद्र को भी शिष्य के रूप में प्रविष्ट किया जा सकता है । काया चिकित्सक बनने की पहल का निर्णय शिष्य का होता था । शिक्षक के चयन को महत्त्व दिया जाता था । उपनयन समारोह के बाद अनुदेश आरम्भ होता था । विद्यार्थी के शारीरिक और नैतिक दोनों ही अहर्ताये रखी जाती थीं। उसको चिकित्सकीय पाठ्यवस्तु उपांगों में शनै : शनै: याद करनी पड़ती थी । उसको सूचनायें ही स्मृति पटल पर अंकित नही करनी थी, बल्कि उनका अर्थबोध भी करना पड़ता था। चिकित्सा के विद्यार्थियों को सिद्धान्त और कर्म (practice) दोनों में दक्षता प्राप्त

करनी पड़ती थी। प्रैक्टिस में शल्यकर्म, चीरफाड़, घावों को साफ करना, मल्लम और रोगाणुनाशक द्रव्य या पदार्थ लगाना प्रमुख थे । अनुदेशन 6 - 7 वर्ष तक होता था । प्रशिक्षण पूरा होने पर प्रैक्टिस के लिए कायाचिकित्सक को राजा की आज्ञा लेनी पड़ती थी । एक चिकित्सक को कैसे वस्त्र धारण करने चाहिए, कैसे थ्यालगत रूप से स्वच्छ होना चाहिए तथा बोलने में कैसे नम्र और शिष्ट होना चाहिए, इन सब पर अनुदेशन की व्यवस्था थी । व्यावसायिक व्यवहार के लिए ऐसे ही नियम चिकित्सा के मूल पाठों में प्रस्तुत थे जैसे कि हिप्पोक्रैटीज के थे । फिर भी कुछ नीम हकीम थे । रोगियों को उनसे सावधान रहने की चेतावनी दी जाती थी ।

बौद्धमत के प्रसार ने बौद्ध धर्म प्रचार मण्डलियों के द्वारा आयुर्वेद की स्वीकृति के लिए मार्ग प्रशस्त किया । बुद्ध ने चिकित्सकीय व्यवस्था का महत्व प्रदान किया। विनय पिटक की एक पाठ्य वस्तु, महावग्या में विभिन्न प्रकार की चिकित्सकीय युक्तियों का वर्णन किया है । यह औषध के इतिहास का मार्गदर्शन उपलब्ध करता है । यह पाठ्य वस्तु रोगोपचार में कर्म की भूमिका की उपेक्षा करती है। इसके अनुसार चिकित्सकीय देखभाल डाक्टर, नर्स और रोगी पर निर्भर है । तक्षशिला चिकित्सा विज्ञान के लिए प्रमुख बौद्ध केन्द्र था । थापर के अनुसार कट्टरपंथी ब्राह्मणों ने इसको अपवित्र घोषित किया था । बौद्ध मठ चिकित्सकीय प्रशिक्षण के महत्वपूर्ण केन्द्र थे । औषध के आचार्य आत्रेय के सानिध्य में जीवक ने तक्षशिला में सात वर्ष तक शिक्षा ग्रहण की

26.9 औषधीय सुविधायें

परोपकारी राजाओं और धार्मिक प्रतिष्ठानों के संरक्षण में गरीबों को चिकित्सकीय अनुदान दिया जाता था । अशोक के राज्यादेशों में उल्लेख है कि वह मनुष्य और पशु के लिए औषध उपलब्ध करता है । पांचवी सदी के आरम्भ में चीनी यात्री फाह्यान भले लोगों के दान से चलने वाले निःशुल्क चिकित्सालयों का उदाहरण देता है । कायाचिकित्सक रोगी का इलाज उसी के घर करता था । परिचर, सम्भवतः पुरुष, हुआ करते थे (वर्तमान नाम नर्स) वे रोगियों को स्नान तथा उनकी मालिश करते थे। उनके बिस्तरों को धोते तथा भोजन के बर्तनों को साफ करते थे । कभी समय आने पर कायाचिकित्सकों को उनकी सेवाओं के लिए अत्यधिक धन दिया जाता था । ऋग्वेद में अभिलिखित है कि काया चिकित्सक अपने कौशल के लिए घोड़ा, पालतू पशु और वस्त्र चाहता था । जीवक बिम्बसार का चिकित्सक था। वह ऊँचा शुल्क प्राप्त करता था । चरक कनिष्क का कायाचिकित्सक बतलाया जाता है । परन्तु कुछ लोग उन्हें बौद्धकाल से पहले का मानते हैं । एक मत के अनुसार चरक व्यक्ति न होकर कृष्ण युजुर्वेद की एक शाखा का नाम है और चरक संहिता का संकलन उसी शाखा के किसी व्यक्ति ने किया है ।

26.10 भारतीय और यूनानी औषध

यूनानी औषध की लोकप्रियता भारत में मुस्लिम सत्ता की स्थापना के बाद बहुत बढ़ी । यूनानी पद्धति के अनुसार भी मानव शरीर सात तत्वों से प्रभावित है - अरकान, मिजाज, अखलात, अदा, रूह, कुबा, अफल ।

(1) भारत के विपरीत यूनान में चीरफाड़ के कार्य का पक्ष नहीं लिया जाता था । यह कार्य जराहों तक ही सीमित था ।

(2) यूनानी कायाचिकित्सक सिद्धान्त को बहुत महत्व देते थे, जबकि भारतीय क्रिया (प्रैक्टिस) पर विश्वास करते थे ।

(3) चिकित्सार्थ उद्देश्यों के लिए जड़ी - बूटियों को एकत्रित करने का कार्य सामाजिक अधिश्रेणी में निम्न वर्ग श्रमिकों के सुपुर्द था । फलस्वरूप यूनान में चिकित्सक औषधियों के उपयोग का सार ज्ञान प्राप्त करने में असफल रहे । हिप्पोक्रेट के ग्रन्थ संग्रह मे औषधकोश का उल्लेख नहीं है । जबकि, भारत में औषधियों के एकत्रीकरण और उनकी प्रयुक्ति पर विस्तृत विवरण है ।

(4) यूनान में रोग को ईश्वर प्रदत्त समझा जाता था । किन्तु, भारत में जादुई धार्मिक से अनुभाविक- विवेक औषध-में सक्रांन्ति आगयी थी ।

दक्षिण भारत में आयुर्वेद प्रणाली को सिद्ध या सिद्धा कहा गया। सिद्ध प्रणाली मानसिक व धार्मिक स्तर पर भी पूर्णता की माँग करती है इसमें नाड़ी को देखकर मनुष्य की शारीरिक व मानसिक स्थिति का पता लगाया जाता है । इस प्रणाली के अनुसार मानव के बांये और दांये हाथ में तीन-तीन नाडियों की अलग- अलग गति रोगी की विभिन्न अवस्थाओं का मान कराती है । इन नाडियों के चलन को देखकर ही चिकित्सक रोगी को उपचार विधि का सुझाव बतलाता है ।

26.11 पशुचिकित्सा औषध

पशु चिकित्सा भी व्यवहार में थी । घोड़े और हाथी के चिकित्सक कुशल एवं सम्माननीय व्यवसायों के सदस्य थे । हाथी और घोड़े भारतीय सेना के महत्वपूर्ण अंग थे । पशु चिकित्सा विज्ञान पर साहित्य में ' हस्तयायुर्वेद' (हाथियों के रोगों की विवेचना) एवं अश्वशास्त्र (घोड़ों के रोगों की विवेचना) का विवरण आता है । अहिंसा के सिद्धान्त ने धर्मादा-पशु - शरण स्थलों और रोग ग्रस्त व बूढ़े पशुओं के आवास गृहों के निर्माण को भी प्रोत्साहित किया था ।

26.12 मध्यकालीन भारतीय औषध

भारत पर मुस्लिमों की विजय से यूनानी अरब अथवा यूनानी औषध पद्धति भारत मे आयी। यह पद्धति बगदाद के चिकित्सा विद्यालयों में खलीफाओं के संरक्षण में विकसित हुयी थी । अरबों ने इसमें समकालीन फारस, भारत, चीन और दक्षिणी और मध्य एशिया का औषध पद्धति में उपलब्ध उत्कृष्ट को शामिल किया था । यह व्यवस्था मुगलों द्वारा मजबूत आधार पर संगठित की गयी ।

26.12.1 औषधीय साहित्य

मध्यकालीन भारतीय राजाओं ने अपने कायाचिकित्सकों (Physician) को औषधीय साहित्य निर्मित करने के लिए प्रोत्साहित किया । ये उनके अनुभवों के संकलन थे । उपचार पद्धतियों, जड़ी बूटियों के गुणों और प्रभावों (विभिन्न रोगों में प्रयुक्त) तथा इन दवाइयों के उपयोग के उपरान्त परिणामों को एक पुस्तक में संग्रहीत कर शासकों को उपहार स्वरूप पुस्तकें भेंट की जाती थी । यह कार्य यूनानी हकीम और आयुर्वेद के कर्मी दोनों ही करते थे । आयुर्वेदिक पद्धति की भांति यूनानी पद्धति भी हास्य-विनोद के सिद्धान्त पर बल देती थी । राजस्थान के ग्रन्थागारों में अनेक दुर्लभ ग्रन्थ भारतीय चिकित्सा पर उपलब्ध होते हैं ।

26.12.2 चिकित्सकीय अनुदेशन

चूँकि इस काल में यूनानी औषध के कोई प्रामाणिक स्कूल नहीं थे, इसलिए प्रत्येक हकीम विद्यार्थियों को अपने चिकित्सालय या घर पर प्रशिक्षण देता था । इस प्रकार चिकित्सकीय प्रशिक्षण

गुरु-शिष्य के घनिष्ठ सम्पर्क के आधार पर प्राचीन भारत की पद्धति के समान होता था । इस प्रकार दोनों ही पद्धतियाँ सह अस्तित्व में थी । मध्यकालीन भारतीय शासक दोनों को ही संरक्षण देते थे । यूनानी पद्धति में चिकित्सकीय विधि से पुत्र को हस्तान्तरित होती थी। इस पद्धति में क्रियात्मक (प्रैक्टिकल) अनुदेशन पर भी बल दिया जाता था । फिरोज तुगलक के शासनकाल में चिकित्सा विद्यालय स्थापित किये गये । प्राचीन भारतीय चिकित्सकीय साहित्यों को अदालती भाषा - फारसी में रूपान्तरित किया गया ।

26.12.3 मध्यकालीन भारत में आयुर्वेद की स्थिति

यूनानी प्रभाव के कारण आयुर्वेद में परिवर्तन हुए तथा इसका चिकित्सकीय ज्ञान भी सार्थक सिद्ध हुआ । अत: दोनों पद्धतियों ने एक दूसरे के साथ सामंजस्य किया, चिकित्सकीय ज्ञान को व्यवस्थित करने के निरन्तर प्रयासों से ये दोनों पूर्ण रूप से एकीकृत हो गये । आयुर्वेदिक कायाचिकित्सक शाही कोष से समर्थित थे । एक ने दूसरे के अस्तित्व को बाधा नहीं पहुँचायी इसलिए दोनों का चिकित्सकीय ज्ञान संरक्षित हुआ । यह स्पष्ट है कि मनसबदारों, अमीरों या सामन्तों द्वारा कई वैद्यों और हकीमो को रोजगार दिया गया । शाही दरबारों और राज्य द्वारा संचालित अस्पतालों में भी कायाचिकित्सक नियुक्त किये जाते थे । दूसरे चिकित्सक निजी प्रैक्टिस करते थे । ऐसे कुछ चिकित्सकों के सन्दर्भ आये हैं जिन्होंने अपार सम्पत्ति और प्रसिद्धि पायी तथा अभिजात बने।

26.12.4 मध्यकालीन भारत में चिकित्सालय

मध्यकालीन भारत में शासकों ने चिकित्सकीय सुविधायें उपलब्ध की और चिकित्सालय खोले। मोहम्मद बिन तुगलक के शासनकाल में दिल्ली में 70 अस्पताल और 1200 हकीम सरकारी नौकरी में थे । राजा स्वयं भी औषध का ज्ञाता था । फिरोजशाह तुगलक ने 5 और अस्पताल बढ़ाये । फिरोजशाह का अभिलेख है कि उसने एक ऐसा चिकित्सालय स्थापित किया जिसमें अमीर और गरीब दोनों का उपचार होता था । अकबर को हकीम अब्दुल फतेह गिलानी की सेवा प्राप्त थी । उसके सुझाव पर विभिन्न स्थानों में चिकित्सालय स्थापित किये गये । जहाँगीर ने अपने राज्याभिषेक के समय यह राजाज्ञा प्रसारित की कि आगे स्थापित किये जाने वाले चिकित्सालयों का व्यय भार सरकार वहन करेगी । शाहजहाँ के शासनकाल को उपचार कला का स्वर्णयुग कहा जाता है । उसके द्वारा स्थापित एक चिकित्सालय दिल्ली की जामा मस्जिद के पीछे था । धनी नागरिक भी चिकित्सकीय सुविधायें उपलब्ध करते थे। सभी बड़े शहरों में अस्पताल विद्यमान थे । औरंगजेब ने मुफास्सिलों, छोटे कस्बों और गाँवों में अधिकाधिक अस्पताल स्थापित किये । उसके शासनकाल में नबाब अर्देश खां के संरक्षण में यूनानी और आयुर्वेद दोनों पद्धतियों विकसित हुयी । एक प्रसिद्ध कायाचिकित्सक द्वारा इटावा में एक चिकित्सालय स्थापित किया गया इसमें हकीम और वैद्य एक साथ काम करते थे । प्रो. इरफान हबीब के अनुसार चिकित्सा सम्बन्धी संस्थाओं और उनके स्टाफ की विशेष अनुदान जो कि औकफ कहलाता था, दिया जाता था । दक्कन बहमनी राज्य में भी प्रजा के स्वास्थ्य और कल्याण पर ध्यान दिया जाता था । मुगलों के काल में यूरोपीय चिकित्सकों की लोकप्रियता भी बढ़ने लगी थी । शाहजहाँ व औरंगजेब के काल में ऐसे कई उदाहरण प्राप्त होते हैं । विदेशी लेखक इटालियन मनूची ने भारत में चिकिस्तक के रूप में अच्छी ख्याति प्राप्त करली थी ।

मुगलों के काल में पश्चिमी तट पर यूरोपियन लोगों का बसना प्रारम्भ हो गया था । गोवा में कई विदेशी चिकित्सक थे । विशेष कर शल्य चिकित्सा के क्षेत्र में इनकी मांग बढ़ने लगी थी । लेकिन इन विदेशी यात्रियों ने यह भी लिखा है कि अधिकांश भारतीय जादू-टोना व ताबीज में विश्वास करते हैं एवं इसे अपने उपचार का एक उत्तम साधन समझते हैं । संभवत : उनके इस सोच के पीछे गरीबी मुख्य कारण रहा हो ।

हकीमों ने यूनानी और आयुर्वेदिक चिकित्सा विज्ञान के आधार पर चिकित्सा विज्ञान की विभिन्न शाखाओं पर पुस्तकें लिखी । सोलहवीं शताब्दी के दो महत्वपूर्ण घटनाक्रम इस प्रकार है । (1) पारा की जानकारी चिकित्सकीय अभिज्ञान में सम्मिलित हुयी तथा पारे की औषधियों का उत्पादन हुआ एवं (2) रोग के निदान के लिए नाड़ी जाँच पद्धति अधिक प्रक्रिया में आयी ।

अठारहवीं शताब्दी में आयी राजनैतिक अस्थिरता से ब्रिटिश शासन के उदय और मध्यवर्गीय संरक्षकों की स्थिति और शाक्ति के हास से देश की चिकित्सा पद्धति को धक्का लगा । इन पद्धतियों के समर्थक शहरी शिल्पियों, सेना और अदालती कर्मचारियों को मिटा दिया गया । प्राचीन मध्यकाल खंडों में भारतीय औषध में गतिशील परिवर्तन हुआ । इसने व्यावसायिक औषध के अभ्युदय में योगदान किया ।

26.13 यूरोपीय चिकित्सा: -

पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है कि यूरोपीय चिकित्सकों की मांग राजदरबारों एवं अमीसे के घर में होने लगी थी । ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना के साथ साथ इन की उपस्थिति एवं मांग तथा उनकी चिकित्सा प्रणाली जो एलोपेथी के नाम से प्रसिद्ध' हुई बढ़ने लगी । ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार के साथ अंग्रेजी डाक्टरों की पूछ और बढ गयी तथा ब्रिटेन में उनकी विशेष मतो करके उन्हें भारत भेजा गया । फिर यह निर्णय लिया गया कि यह प्रक्रिया बहुत नहीं चलने वाली है और इसके लिये भारतीयों का सहयोग भी आवश्यक है । इस उद्देश्य से भारत में मेडिकल कॉलेज खोले गये तथा बड़े शहरों एवं जिला स्तर के केन्द्रों पर अस्पताल एवं डिस्पेन्सरी खोली गयी । लेकिन नगरपालिकाओं एवं जिला बोर्डों की आमदनी पर आश्रित ये सेवाऐं बहुत धीमे स्तर पर विकसित हुई । प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् देशी रियासतों में इन सुविधाओं पर बहुत ध्यान दिया गया । परन्तु ग्रामीण स्तर पर इन सेवाओं का लाभ नहीं पहुँचा । आधुन्कि भारत भी इन विरासतों से विशेष ऊपर नहीं उठ पाया । सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं का कोई विशेष गठन नहीं हुआ । जिसका परिणाम यह निकला कि महामारियाँ फैलती रहीं । इसके पश्चात् भी ब्रिटिश काल में कुछ उल्लेखनीय घटनाएँ घटीं । उदाहरणार्थ रोनाल्ड रॉस के मलेरिया, मैकनमारा के हैजा, हैफकिन्स द्वारा प्लेग तथा रोजर्स ने कालाजार पर जो शोधकार्य किया उससे महामारियों को नियंत्रित करने की दिशा में मार्ग खुला ।

26.14 इकाई सारांश

जिस प्रकार के विवरण प्राप्त हुए हैं, उनसे यही प्रमाणित होता है कि वैदिक काल से भारतीय चिकित्सा शास्त्र का विधिवत प्रारम्भ हो गया था । आगे चलकर इसमें चरक एवं सुश्रुत जैसे विद्वानों ने अपने अपने ढंग से योगदान दिया । सुश्रुत ने शल्य चिकित्सा के महत्व को भी समझाया । बौद्ध प्रचारकों ने दान लेने के बदले चिकित्सा करके उसे प्रत्युत्तर सेवा बतलाकर जनसाधारण को प्रभावित किया । दक्षिणी भारत में ' सिद्ध' आयुर्वेद की ही एक प्रणाली थी । आयुर्वेद में वात कफ एवं पित्त

के संतुलन बिगड़ने एवं उसमें विभिन्न दोषों के आ जाने को ही व्याधियों का मुख्य कारण माना है। वैसे यूनानी प्रणालियों का प्रचार चिकित्सा क्षेत्र में शक, हूण एवं पार्थियनों के आने से प्रारम्भ हो गया परन्तु इस चिकित्सा पद्धति का विस्तृत प्रचार इस्लाम के अनुयायियों के निरन्तर आगमन के साथ अधिक हुआ । शनैः शनैः यूनानी पद्धति एक प्रमुख विधि बन गयी । यूनानी पद्धति में सात तत्त्वों पर अधिक बल दिया गया । संक्षेप में यूरोपीय पद्धतियों के अलावा सभी प्राचीन प्रणालियों में शरीर व मन दोनों की दशाओं को उपचार हेतु मनन में लाया गया । यूरोपीय पद्धतियाँ मुगलकाल में आ गयीं थीं एवं समुद्री तटों पर यूरोपीय समूहों के बसने के कारण व्यवहार में भी आ चुकीं थीं। परन्तु इसका विस्तार ब्रिटिश साम्राज्य के फैलाव के साथ ही हुआ । जब यह पाया गया कि इस विस्तार के लिये भारतीयों के सहयोग की आवश्यकता है तो मेडिकल कॉलेज खोले गये तथा अस्पताल भी बनाये गये। लेकिन ब्रिटिशकाल में ग्रामीण स्तर पर इन सेवाओं का वांछनीय विस्तार नहीं हुआ । पर मलेरिया, हैजा आदि महामारियों में नये प्रयोगों ने नयी दिशाएँ अवश्य खोल दीं ।

26.15 अभ्यासार्थ प्रश्न

(अ) निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिये: -

(1) अथर्ववेद में चिकित्सा शास्त्र के बारे में क्या विचार प्रकट किये गये हैं ?

(2) यूनानी पद्धति में किन सात तत्वों पर बल दिया गया है ?

(3) सुश्रुत का चिकित्सा क्षेत्र में किस प्रकार का योगदान है ?

(ब) निम्न प्रश्नों का उत्तर 500 शब्दों में दीजिये : -

(1) आयुर्वेद पद्धति के क्या मुख्य लक्षण हैं ?

(2) चरक का आयुर्वेद पद्धति में क्या मुख्य योगदान है ?

(3) यूरोपीय पद्धतियाँ भारत में किस प्रकार आयीं व इनका योगदान क्या रहा है ?

26.16 प्रासंगिक पठनीय ग्रन्थ

(1) ए. एल. बाशम दी वर्ण्डस देट वाज इण्डिया ।

(2) एस. एल. भाटिया ए हिस्ट्री आफे मेडीसन

(3) डी. पी चटोपाध्याय, साइन्स एण्ड सोसायटी इन एनशियण्ट इण्डिया

(4) पी. कुटुम्बिया, एनशियण्ट इण्डियन मेडीसन

(5) एच. सीजेरीस्ट, ए हिस्ट्री ऑफ मेडिसन, भाग - 2

इकाई 27 "काल गणना एवं पंचांग"

इकाई की संरचना

27.1 उद्देश्य

27.2 प्रस्तावना

27.3 काल विभाजन

27.3.1 खगोल शास्त्र की उत्पत्ति

27.3.2 भारतीय ज्योतिष शास्त्र

27.4 काल गणना

27.4.1 चन्द्र तथा चन्द्र-सौर काल गणना

27.4.2 अधिकमास ओर क्षय मास

27.4.3 राशि व संक्रान्ति

27.4.4 अनान्त और पूर्णमान्त

27.4.5 अयन

27.4.6 वसन्त विषुव

27.4.7 ग्रहण

27.4.8 तिथि

27.4.9 नक्षत्र

27.4.10 दिन एवं सप्ताह

27.4.11 मानक समय

27.5 पंचांग

27.5.1 प्रस्तावना

27.5.2 संवतों का प्रारम्भ

27.5.3 भारत में संवतों का प्रचलन विक्रम संवत्

27.5.4 विक्रम संवत

27.5.5 शक संवत्

27.5.6 सरकारी शक संवत्

27.5.7 ईसवी सन्

27.5.8 हिजरी सन्

27.6 इकाई सारांश

27.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

27.8 प्रासंगिक पठनीय ग्रन्थ

27.1 उद्देश्य

भारतीय समाज, संस्कृति एवं इतिहास को जानने के लिए विभिन्न ऐतिहासिक ग्रन्थों, शिलालेखों, ताम्रपत्रों, दस्तावेजों आदि का अध्ययन करना पड़ता है । इनमें विभिन्न संवतों का प्रयोग होता आ रहा है । कौन संवत् कब और कैसे प्रचलित हुआ, यह विद्यार्थी को जानना अत्यन्त आवश्यक है । इसके न जानने से वह कई भूलें कर सकता है । अतः प्रस्तुत इकाई में विभिन्न संवतों का संक्षेप में इतिहास दे दिया गया है । प्राचीनकाल से अब तक कालगणना कैसे की जाती रही है इसका विवेचन भी इस इकाई में मिलेगा । अतः संस्कृति एवं परम्पराओं के निर्वाह के लिये एक प्रचलित दृढ़ कड़ी का ज्ञान हमको हो जायेगा ।

27.2 प्रस्तावना

काल : सृजति भूतानि काल संहरते प्रजा :

अर्थात्, काल के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति और समाप्ति होती है । उसी के कारण ऋतुओं में परिवर्तन होते हैं । काल में ही इतिहास का ज्ञान होता है । काल की गति अबाध है । समय किसी के लिये रुकता नहीं । अस्तु, काल की गणना दिन व रात, ऋतु तथा वर्ग के किसी न किसी रूप में प्राचीन काल से ही की जाती रही है । आजकल काल की गणना 'वर्ष ' द्वारा की जाती है । लेकिन बहुत प्राचीन काल में यह गणना चन्द्रमा के उदय व विकास तथा ऋतुओं के परिवर्तन द्वारा की जाती थी । वर्ष का अभिप्राय ही एक वर्ष काल के प्रारंभ से दूसरे वर्ष के प्रारंभ होने तक के समय से हैं । ऋग्वेद में एक वर्ष में तीन ऋतुओं - शरद, बसन्त और हेमंत का होना बतलाया गया है ।

शंत जीव शरदो वर्धमान : शंत हैमन्तान्धतमु बसन्तान (ऋग्वेद मंडल) 10/16/4

ऋतुओं की उत्पत्ति अथवा परिवर्तन सूर्य के कारण होता है । अतः सूर्य को ऋतुओं का पिता या सविता कहा गया है । इसी से ऋतु चक्र, संवत्सर कहलाते हैं । एक संवत्सर में पांच ऋतुयें होती हैं । और ऐसे पांच ऋतु चक्रों का एक युग होता है । इन ऋतु चक्रों के नाम है - संवत्सर, परिवत्सर, इडात्सर, अनुवत्सर और उद्वत्सर । इन पांच वत्सरों या अंगों का गणित द्वारा अनुसंधान कर उनका वर्णना करना पंचाग कहलाता है । सामान्य रूप से पंचाग में तिथि, वार, नक्षत्र, योग व करण बतलाये जाते हैं । इससे आसानी से ज्ञात हो जाता है कि किस दिन क्या तिथि या वार है, वर्ष का आरंभ कब हुआ इस वक्त सूर्य या चन्द्रमा किस स्थान पर है आदि, आदि ।

आज कल तो पंचाग बहुत ही सुलभ हो गया है और उसके नियम इतने सुलभ हो गये हैं कि अब हम सोच ही नहीं सकते कि प्राचीन काल में तिथि आदि जानने में कितनी कठिनाइयां आती थी। जब तक मनुष्य केवल आखेट, या जंगली फल फूलों पर निर्भर था तथा अंधेरी गुफाओं मे रहता था, उसे समय के महत्व का ख्याल ही नहीं आया होगा । परन्तु जब वह कृषि पर निर्भर होने लगा तब उसने समय के महत्व को पहचाना होगा क्योंकि वर्षा के कारण काश्त निश्चित समय पर ही हुआ करती थी । भूमि साफ करने, बीज बोने व फसल काटने के लिए वर्षा के आगमन का समय जानना उसके लिए अतिआवश्यक होगा । ज्यों - ज्यों मनुष्य सुसभ्य होकर. सामाजिक जीव होता गया उसके लिये समय का महत्व बढ़ता ही गया । मानव समाज में नाच, रंग, खेल-कूद, उत्सव-त्यौहार मनाये जाने लगे । उनका भी समय निर्धारित किया गया । इनका समय निश्चित करने के लिये पुराने अनुभवों

को प्रयोग में लिया गया और उन अनुभवों के आधार पर समय का विभाजन किया गया । यह विभाजन मोटे रूप से तीन बातों के कारण किया गया । वे हैं - दिन, चन्द्र मास और वर्ष । दिन के साथ रात, चन्द्रमास में शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष और वर्ष में ऋतुओं का समावेश किया गया ।

27.3 काल विभाजन

प्राचीन काल में मनुष्यों ने देखा होगा कि कुछ समय के लिये सूर्य आकाश में रहता है । वह पूर्व में उदय होकर पश्चिम में अस्त हो जाता है ओर उसका क्रम निरन्तर चलता है । जब तक सूर्य आकाश में रहता है पृथ्वी पर प्रकाश रहता है और उसके अस्त होते ही चारों और अंधेरा हो जाता है। अत: उन्होंने सबसे पहले दिन और रात का विचार किया होगा कि निरन्तर दिन के बाद रात और रात के बाद दिन आता है । एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय के समय को उन्होंने एक इकाई मान कर उसका नाम 'दिन' रखा होगा लेकिन यह इकाई उनके लिये बहुत छोटी थी । मनुष्य के जीवन में ऐसे हजारों दिन आते होंगे और उसमें कई महत्वपूर्ण घटनायें होती होंगी । उनको दिन में याद रखना बड़ा कठिन प्रतीत हुआ होगा । इसके कारण उसने दिन से बड़ी इकाई खोजी । मनुष्य ने सूर्य के साथ साथ चन्द्रमा पर भी गौर किया । उन्होंने देखा के चन्द्रमा एक दिन शाम को पश्चिम में पतली प्रकाश-युक्त अर्ध गोलाकार (चाप) रूप में दिखाई देता है । यह धीरे- धीरे बढता जाता है । और लगभग 15 दिन पश्चात् पूर्व में शाम को पूर्ण गोल दिखाई देता है । उसके बाद वह क्षीण होना आरंभ होता है और फिर आकाश में अदृश्य हो जाता है । उसके बाद फिर संध्या को पश्चिम में दिखाई दे जाता है । उसका यह क्रम बराबर लगभग तीस दिनों के अन्तर से चलता रहता है । उन्होंने तब चन्द्रमा के पूर्ण गोलाकार होने या पूर्ण अदृश्य होने से अगली बार पूर्ण गोलाकार होने या पूर्ण अदृश्य होने के समय को एक इकाई माना होगा और उसे मास नाम दिया होगा । यह इकाई भी बहुत लम्बे समय को नापने के लिये कालांतर में असुविधाजनक लगी होगी । अत: चन्द्रमास से भी बड़ी इकाई की ओर मनुष्य का ध्यान गया होगा।

मनुष्य ने देखा कि वर्षा, सर्दी और गर्मी बराबर एक क्रम में आती रहती हैं । कृषि पर निर्भर रहने के कारण वर्षा उनके लिये अत्यन्त उपयोगी थी उसने एक वर्षा में दूसरी वर्षा के बीच के समय को एक इकाई मान लिया और इसका नाम वर्ष रखा । इस इकाई का नाम केवल वर्षा के कारण वर्ष ही नहीं था बल्कि अन्य ऋतुओं के नाम भी इस इकाई के रूप में प्रयुक्त होते थे जैसे, शरद, बसन्त, हेमन्त । ऋग्वेद के एक मंत्र में एक वर्ष को शरद, हेमन्त और बसन्त-तीन नामों से कहा गया है ।

27.3.1 खगोल शास्त्र की उत्पत्ति

वर्ष को इकाई मान लिया गया लेकिन मनुष्य यह पूर्णतया सही जान नहीं सका कि वर्ष में कितने महीने और दिन होते हैं । वर्ष ही क्यों, महीने व दिन की इकाई का सही समय भी वह नहीं जानता था । यह तो हम भी देखते हैं कि सूर्य उदय या अस्त एक ही निश्चित समय पर नहीं होता है । यह भी जानते हैं कि चन्द्रमास 29 या 30 दिन का ही होता है और वर्ष 12 चन्द्रमासों का ही नहीं होता है । एक वर्ष में 12 चन्द्रमासों से कुछ दिन ज्यादा होते है । एक चन्द्रमास में 29 दिन से कुछ ज्यादा समय ही होता और 30 दिन से कुछ समय कम ही होता है । प्रत्येक दिन अपने से अगल या पिछले दिन से कुछ सैकण्ड कम या ज्यादा ही होता है । प्राचीन काल में समय नापने के वर्तमान काल की तरह के सूक्ष्म समयमापी यंत्र नहीं थे । अत: इन सब इकाईयों का सही मान मनुष्य का बहुत

समय बाद अनुभव से ज्ञात हुआ होगा । इन तीनों इकाईयों के सम्बन्ध में खोज प्राचीन काल से बराबर चली आ रही है । इन्हीं खोजों के फलस्वरूप खगोलशास्त्र व ज्योतिष की उत्पत्ति हुई ।

प्राचीन काल में ज्योतिष सम्बन्धी ज्यादातर आविष्कार बिना यंत्रों के ही किये जाते थे । धीरे-धीरे विभिन्न प्रकार के यंत्रों व वैधशालाओ का निर्माण हुआ और अब तो हम समय की निम्नतम इकाई तक की भली प्रकार गणना कर सकते हैं ।

27.3.2 भारतीय ज्योतिष शास्त्र

मनुष्य ने प्रारम्भ में समय को तीन इकाइयों - वर्ष, माह व दिन में बाँटा । इन इकाइयों का सही माप वह कर नही सका क्योंकि उस काल में वर्तमान के समान नापने के यंत्र-घड़ियाँ, क्रोनोमीटर आदि नहीं थे । उस काल में सूर्य, चन्द्र व तारों को देख कर ही समय का अनुमान किया जाता था। मनुष्य सदियों में काम करते यह अनुभव करने लगा होगा कि सर्दियों के दिन गर्मियों की अपेक्षा छोटे होते हैं तथा रातें लम्बी हुआ करतीं हैं । पूर्णिमा के चन्द्रमा को देख कर ही वह महीने का समय निश्चित नहीं कर सका होगा क्योंकि पूर्णिमा को चन्द्रमा कुछ मिनटों क्या कई घंटों तक एक सरीखा दिखाई देता है । अत: केवल चन्द्रमा को देख कर ही समय का अनुमान नहीं लगाया जा सका होगा । यदि उसने महीने में 29 या 30 माने होंगे तो कुछ महीने बाद चन्द्रमा उस माने जाने वाले पूर्णिमा के दिन पूर्ण गाल नहीं दिखाई दिया होगा । वेध (आँखों से देखी बात) व गणना में अंतर आ गया होगा । इसी प्रकार वर्ष में महीनों की संख्या निश्चित की गई होगी । वर्ष में 12 चन्द्रमासों की गणना करने के बाद मनुष्य ने देखा होगा कि नया वर्ष आरंभ हो गया लेकिन वर्षा तो होनी दूर रही, कड़ाके की सर्दी पड़ रही है । चन्द्रमासों से गणना करने पर होता भी यही है । हम देखते हैं कि मुसलमानी सन् हिजरी का पहला मास मुहर्रम कभी वर्षा के दिनों में पड़ता है तो कभी सर्दियों में और कभी गर्मियों में । अत: प्राचीन काल में यह अनुभव हुआ होगा । अब हम जानते हैं कि एक सौर वर्ष 365 दिन 5 घंटा 48 मिनट 45.7 सैकण्ड का होता है । एक चन्द्र माह 29 दिन 12 घंटे 44 मिनट 28 सैकण्ड का होता है । एक सौर दिवस 23 घंटे 56 मिनट 4. 091 सैकण्ड का होता है । इन दिनों व महीनों का प्राचीन काल में वर्ष से किसी प्रकार मिलान किया गया होगा । इसके क्या नियम थे, यह कुछ नहीं कहा जा सकता क्योंकि किसी भी प्राचीन ग्रन्थ में इसके नियम नहीं मिलते हैं । यह हम जानते हैं कि सूर्य के दर्शन से दिन का आरम्भ और छिपने से रात्रि का क्रम चलता आया है । दिन और रात के छ-छ भागों को 'लग्न' में, या कभी बारह भागों को 'होरा' (अहोरात्र) में विभक्त किया जाता है । दिन को दो भागों में पूर्वाह्न और पराह्न, तीन भागों में पूर्वाह्न, मध्याह्न और पराह, चार भागों में पूर्वान्ह, अपरान्ह, पूर्वाह्न और सामाह (चार प्रहर), पांच भागों में - प्रातः, संगव, मध्यान्ह, अपराह, सायाह में बाटा गया । अहोरात्र को 24 भागों में विभाजित करने पर प्रत्येक भाग को होरा (घंटा) कहते हैं । होरा का साठवां भाग विहोरा (मिनट) 3600 वां प्रति विहोरा (सैकण्ड) कहलाता है । एक अहोरात्र का तीसवां भाग मुहुर्त, साठवां भाग घटी, 3600 वां भाग वपल तथा 3600x60 वां भाग विपल और 3600x60x60 वां भाग प्रति विपल कहलाता है ।

ऋग्वेद के अनुसार वर्ष में बारह मास और हर मास में 30 दिन माने जाते थे । ऋग्वेद में एक स्थान पर लिखा है कि समय के चक्र के 12 अरे (मास) है जो स्वर्ग में बराबर भ्रमण करते रहते हैं । यह कभी भी पुराना नही होता है । इस चक्र में पुत्रस्वरूप 720 (360 दिन और 360 रात्रियों) निवास

करते हैं । (ऋग्वेद 1/164/11) इससे यही अर्थ लिया जाता है कि एक वर्ष में 12 मास और 360 दिन होते हैं । एक अन्य मन्त्र में चक्र के 12 अरों का 3 नभयानि से विभाजित बतलाया है इसमें 360 शंकु है जो कभी ढीले नहीं होते है (ऋग्वेद 1/164/48) । यह मंत्र बतलाता है कि वर्ष के 12 महीने 3 ऋतुओं में विभाजित थे । ये 12 मास चन्द्रमास थे क्योंकि इन चन्द्रमासों को सौर वर्ष से मिलाये रखने के लिये उन्हें एक अधिमास की भी कल्पना करनी पड़ी थी । यह अधिमास किस प्रकार गिना जाता था, यह स्पष्ट नहीं है । महीनों के क्या नाम थे इसका भी उल्लेख नहीं मिलता है । दिनों का उल्लेख सम्भवतः: नक्षत्रों द्वारा करते थे ।

यजुर्वेद में वर्ष के बारह महीनों के नाम दिये गये हैं । वे हैं - मधु, माधव, शुक्र, शुचि, नभ, नमस्य, इश, उर्ज, सहस, तपस, सहस्य और तपस्या । ये मास सौर थे । इसमें सूर्य के उत्तरायण व दक्षिणायन होने तथा विषुवान का उल्लेख है । नक्षत्रों की भी पूर्ण सूची दी हुई है । इन नक्षत्रों के निकट पूर्णमासी होने से ही बाद में उन नक्षत्रों के नाम पर महीनों के नाम पड़े हैं । यो नक्षत्र 27 होते हैं लेकिन समयान्तरों का विचार कर 12 नक्षत्रों के नाम पर महीनों के नाम दिये गये हैं । तिथियों का भी उल्लेख किया गया है । प्रत्येक पक्ष में 15 तिथियां होती थी । शुक्ल पक्ष में तिथि एक चन्द्रास्त से दूसरे चन्द्रास्त तक तथा कृष्ण पक्ष में एक चन्द्रोदय से दूसरे चन्द्रोदय तक गिनी जाती थी ।

वेदांग ज्योतिष : - यजुर्वेद के बाद हमें वेदांग ज्योतिष में तिथि पत्रक बनाने के प्रारम्भिक नियम मिलते है । इसके दो पाठ-ऋग्वेद ज्योतिष और यजुर्वेद ज्योतिष-मिलते हैं । इसमें कुल 44 श्लोक हैं लेकिन इनमें से 37 श्लोक ही ज्योतिष सम्बंधी है । इसमें बतलाया गया है कि समय गणना की 3 प्राकृतिक इकाइयां-अहोरात्र (दिन रात), चन्द्रमास और वर्ष हैं । पृथ्वी के अपने पक्ष पर परित: एक बार घूमने पर अहोरात्र होता है । एक पूर्णिमा से आगामी पूर्णिमा तक एक चन्द्रमास होता है । चन्द्रमास पृथ्वी के परित: चन्द्रमा के परिक्रमण के कारण होता है । सूर्य पृथ्वी के परित: चक्कर लगाता हुआ दिखाई देता है । एक चक्कर का समय एक वर्ष होता है । एक युग में 62 चन्द्र मास या 1860 चन्द्र दिवस या 60 सौर-मास या 1830 सावन-दिन बताये गये हैं । दो चन्द्रमासों के सौर-मासों से ज्यादा होना 5 वर्षों मे 2 अधिमासों की गणना के फलस्वरूप है । इस गणना से एक चन्द्रमास 29.516 दिन तथा एक वर्ष में 2366.2 दिन होते हैं । यह मान आधुनिक खोजों के अनुसार सही नहीं हैं क्योंकि एक चन्द्रमास 29.530588 दिन को माने तो 20 वर्षों में 3.5 दिन की अशुद्धि बढ़ जायेगी और 20 वर्षों के बाद अमावस्या के दिन आकाश में चन्द्रमा दिखाई देगा । इसके अतिरिक्त इसमें सब तिथियाँ बराबर मानी गई है, लेकिन वास्तव में सूर्य और चन्द्रमा आसमान के कोणीय वेग से चलते हैं और इससे तिथियाँ छोटी बड़ी होती हैं और उनकी गणना के अलग से नियम है । इसमें काल, मुहूर्त ऋतु-विशेष आदि की भी परिभाषाएँ दी गई, हैं । तिथियों के क्षय का भी इसमें उल्लेख है । एक चन्द्र-मास 29.516 दिन का होता है, लेकिन एक मास में 30 तिथियाँ होती हैं । अत: दो चन्द्रमासों में 59 दिन और 60 तिथियाँ होती हैं । इससे लगभग 2 महिनों में औसतन एक तिथि का क्षय होता है । यदि ऐसा न करे तिथियो और मासों का सम्बन्ध टूट जायेगा । इसमें यह भी बतलाया गया है कि पूर्णिमा या अमावस्या पर चन्द्रमा किस स्थान पर रहता है तथा नक्षत्र में सूर्य के स्थान का पता कैसे लगाया जावे । तीन श्लोकों में विषुव (वह समय जब कि सूर्य विषुवत रेखा पर पहुँचता है और दिन व रात बराबर होते हैं ।) की गणना करना बतलाया गया है । एक श्लोक में योग का पता लगाना बतलाया गया है । योग सूर्य और चन्द्रमा के योगांशो का जोड़ है । इन जोड़ों की कमी अधिकता को विशेष नाम

दिये गये हैं । एक श्लोक में 27 नक्षत्रों को एक विशेष क्रम में बतलाया गया है । इसमें जो कुछ त्रुटियाँ रह गयी हैं उनमें से वैध और गणना में काफी अन्तर रहता है । अत: मास और वर्ष को ठीक रखने के लिए सम्भव है कि बाद में कुछ अन्य नियम बनाये गये होंगे । ये नियम क्या थे, वे अप्राप्य हैं।

वेदांग ज्योतिष के अनुसार काल गणना ई. सन् 200 तक चलती रही । यों ईसा पूर्व 500 व ई. सन् 100 के बीच शकों व कुषाणों ने यूनानी पद्धति पर समय गणना आरम्भ कर दी थी। इसके पूर्व भी भारतीय यूनानियों के सम्पर्क में आते रहें थे लेकिन तब ज्योतिष विज्ञान में यूनानी इतने पारंगत नहीं थे । तब वे भी ज्योतिष ज्ञान के लिए मिश्र व बेबीलोनवासियों का ही मुंह ताकते थे । ई. पू 150 के लगभग भारत तथा यूनान, जिसमें बेबीलोन भी था, के सम्बन्ध, बीच में पार्थियन साम्राज्य के स्थापित हो जाने से लगभग समाप्त हो गया । यों पार्थियन भी अपने को यूनानी संस्कृति का प्रेमी बतलाते थे, लेकिन तब भारतीयों का शक व कुषाण राज्यों से ज्यादा सम्पर्क बढ गया । इस समय में पश्चिम ज्योतिष का भारत में मुख्य केन्द्र उज्जैन था जो पश्चिम क्षेत्रों की राजधानी थी । पालम क्षेत्रों ने ही तब लगातार समय गणना के लिए शक संवत् प्रचलित किया । ऐसी भी किंवदन्ती है कि भारत में ज्योतिष का ज्ञान शाकद्रिपी ब्राह्मण लाये जो मध्य एशिया से आये थे । इनको सूर्य का इष्ट था । इसी कारण तत्कालीन सूर्य मूर्तियों के जूते मध्य-एशिया के बादशाहों की भांति ऊँचे बनाये जाते थे । भारत के प्रसिद्ध ज्योतिषि आर्यभट्ट और वराहमिहिर शाकद्विपी ब्राह्मण बतलाये जात हैं

पांच सिद्धान्त

वराहमिहिर ने ई. सन् 550 के लगभग 'पंच सिद्धांतिका' ' लिखी जिसमें तत्कालीन प्रचलित पाच सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है । वे सिद्धान्त है - पितामह, वशिप्त, रोमक, पुलिश और सूर्य।

पितामह सिद्धान्त - के अनुसार 30 महिनों में एक अधिमास होता है । और 62 दिनों में एक तिथि का क्षय होता है । यह वेदांग ज्योतिष से काफी मिलता जुलता है ।

वशिष्ठ सिद्धान्त- बहुत कुछ पितामह सिद्धान्त की तरह हीहै परन्तु उससे कई बातों में अधिक शुद्ध है । इसमें राशियों की चर्चा है तथा तिथि और नक्षत्र की गणना की रीति बतलाई गई है जो ठीक नही है । वराहमिहिर ने वशिष्ठ सिद्धान्त और पितामह सिद्धान्त को निम्नतम श्रेणी का बतलाया है।

रोमक सिद्धान्त श्रीषेण ने बनाया था । यह सिद्धान्त यवन ज्योतिष पर आश्रित था । इसमें वर्ष का मान 365.2467 दिन का तथा 19 वर्षों में 7 अधिमास माने गये हैं । रोमक सिद्धान्त में कोई मौलिकता नहीं है । केवल यवन ज्योतिष व भारतीय ज्योतिष का मेल बैठा कर नया नाम दिया गया है ।

पुलिश सिद्धान्त : बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है । इसमें वर्ष 365 दिन 6 घंटे 12 मिनट का माना गया था । इसमें उज्जैन और बनारस के यवनपुर (अलक्जैंड्रिया) के देशान्तर दिये हैं । इसमें ग्रहणों की गणना के लिए नियम भी दिये गये हैं । मास के प्रत्येक दिन को देवताओं के नाम दिये हैं । दिन को देवताओं के नाम देना पूर्णतया ईरानी पद्धति है लेकिन दिन को देवताओं के जो नाम इसमें दिये गये हैं वे सब भारतीय देवता हैं ।

सूर्य सिद्धान्त ईसवी सन् 400 के लगभग बना । वेदांग ज्योतिष के बाद ज्योतिष संबंधी ज्ञान का यह सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है । इसके आधुनिक रूप में 14 अधिकार (अध्याय) हैं तथा इसमें कुल 500 श्लोक हैं । इसमें समय की छोटी से छोटी इकाइयाँ दी गई हैं लेकिन इन इकाइयों का नाम किस यन्त्र से किया जाता था, यह स्पष्ट नहीं है । एक वर्ष को देवताओं का एक दिन बताया गया है जो

4,32,00,00,000 वर्ष का होता है । ऐसे 360 दिनों का ब्रह्मा का एक वर्ष कहा जाता है । इस ग्रन्थ में सूर्य, चन्द्रमा और ग्रहों के भ्रमण काल भी दिये हैं । सूर्य का भ्रमण काल 365 दिन 6 घंटे 12 मिनट 3. 56 सैकण्ड तथा चन्द्रमा का 27 दिन 7 घंटा 43 मिनट 2. 6 सैकण्ड बतलाया गया है । सूर्य का व्यास पृथ्वी के व्यास से लगभग चौगुना बतलाया गया है । लेकिन आधुनिक वेधों के अनुसार सूर्य का व्यास पृथ्वी के व्यास से 100 गुना से भी कुछ अधिक है । सूर्य ग्रहण के लिए बतलाया गया है कि सूर्य के नीचे आ जाने पर चन्द्रमा उसको बादल की तरह ढक लेता है तथा चन्द्रग्रहण के लिए बतलाया गया है कि पूर्व की ओर भ्रमण करता हुआ चन्द्रमा भूछाया में प्रवेश कर जाता है तब चन्द्रमा का ग्रहण लगता है । कौन ग्रहण कब, कैसे और कितना होगा, यह भी इसमें बतलाया गया है ।

सूर्य -सिद्धान्त के सातवें अध्याय में बतलाया गया है कि ग्रह एक दूसरे के निकट कब और कहीं दिखाई देते हैं और इनका शुभाशुभ फल क्या होता है । आठवें अध्याय में नक्षत्रों और विशेष तारों को स्थिति दी गई है । नवे अध्याय में बतलाया गया है कि सूर्य के निकट जाने के कारण ग्रह कब अस्त और उदय होते हैं । और इनकी गणना कैसे की जावे । इसमें बतलाया गया है कि चन्द्रमा सूर्य के कम से कम 12 अंश की दूरी पर रहता है तो अदृश्य रहता है । ग्यारहवें अध्याय में बतलाया गया है कि जब सूर्य और चन्द्रमा की क्रान्तियाँ बराबर होती हैं तब विपत्ति की आशंका होती है । ऐसे अवसरों की गणना रीति भी बतलाई गई है । इसके तेरहवें अध्याय में ज्योतिष- यन्त्रों को बनाने की रीति बतलाई गई है । लेकिन, ये यन्त्र वह स्वयं बना पाया या नहीं, यह संदेहास्पद है क्योंकि इसमें दी गई रीति से बना असम्भव प्रतीत होता है । इसके अंतिम (14 वे) अध्याय मै समय की विविध इकाइयों और विशेष प्रकार के समयों - सौर सावन, चन्द्र, नक्षत्र आदि- का वर्णन किया गया है ।

सूर्य सिद्धान्तों में समय-समय पर संशोधन होते रहे । अत प्रचलित सूर्य सिद्धान्त प्राचीनतम सूर्य सिद्धात से भिन्न है। सूर्य.- सिद्धान्त का मूल पाठ सन् 400 के लगभग लिखा गया ओर उसमें ई. सन् 1100 तक परिवर्तन होते रहे ।

भारत में तिथि पत्रक सूर्य -सिद्धान्त में दिये वर्षमान के अनुसार बनाये जाते हैं । उसके अनुसार सौर वर्ष 365 दिन 6 घंटा 12 मिनट 36 सैकण्ड का होता है । लेकिन वास्तव में 365 दिन 5 घंटा 48 मिनट 45. 7 सैकण्ड का होता है अत: वर्ष का आरम्भ वास्तव में प्रति वर्ष 34 मिनट 51 सैकण्ड पहले आरम्भ होता है । भारतीय पंचांगों में इस गणना से पिछले 1400 वर्षों में लगभग 23. 2 दिन आगे निकल गया है । इसमें भारतीय सौर वर्ष जो बसंत विषुव के पश्चात् 22 मार्च को आरम्भ होना चाहिए था, अब 13 या 14 अप्रैल से आरम्भ होता है । इसी प्रकार की अशुद्धि पहले ईसवीं सन् तिथि पत्रक में भी रहा करती थी जो बाद में पोप ग्रेगरी के आदेश से दूर की गई । भारत सरकार ने भी इन्हीं कारणों से अब सौर वर्ष का आरम्भ 22 मार्च से करने का आदेश दिया है और ई. सन् 1957 से राष्ट्रीय पंचांग का शक संवत् इसी तिथि से आरम्भ होने लगा है ।

एक संक्राति से दूसरी संक्रान्ति तक के समय को सौर मास कहते हैं । सौर वर्ष का प्रारम्भ मेष की संक्रान्ति से होता है । सूर्य जिस राशि में होता है उसी के नाम से उस सौर मास का नामकरण होता है । मेष सौर मास को वैशाख, वृष सौर मास को ज्येस, मिथुन सौर मास को आषाढ़ भी कहते हैं । इसी प्रकार और महीनों के नाम है' ।

सौर महीनों की लम्बाई में प्रत्यक्ष वैध से काफी अन्तर 11. 5 घंटों तक रहता है । अत: वर्तमान पंचांग बनाने वाले ज्योतिषियों के लिए यह अत्यन्त आवश्यक हो गया है कि वे अब सूर्य-सिद्धान्त के अनुसार पंचांग न बना कर वर्तमान वेधों के अनुसार बनावें ।

ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त

सूर्य-सिद्धान्त के बाद का गणित ज्योतिष का अति प्रसिद्ध ग्रंथ ' 'ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त' ' है जिसकी रचना ई. सन् 628 में ब्रह्मगुप्त ने की । उसने इसकी रचना ग्रहों के प्रत्यक्ष वेध कर के की थी और वह इस बात को आवश्यक समझता था कि जब कभी गणना और वेध में अंतर पड़ने लगे तो वेध के द्वारा गणना शुद्ध कर लेनी चाहिए ।

सिद्धान्त शिरोमणि

ज्योतिष सिद्धान्त का एक अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'सिद्धान्त शिरोमणि' ' है । इसमें ज्योतिष सिद्धान्त की सभी बातें विस्तार और उपपत्ति के साथ बताई गई है । सिद्धान्त शिरोमणि की रचना ई. सन् 1150 में भास्कराचार्य द्वितीय ने की । यह दो भागों -गणिताध्याय-गोलाध्याय में है । इसके अनुसार सौर-वर्ष 365 दिन घटी 30.73 पल अर्थात् 365 दिन 6 घंटे 11 मिनट 57 - 12 सैकण्ड का होता है । भास्कराचार्य ने गणित ज्योतिष का पर्याप्त विस्तार किया और उपपत्ति सम्बन्धी बातों पर काफी ध्यान दिया । उसने आकाश के प्रत्यक्ष वेध से बहुत कम काम लिया । वेधों के लिए उसने ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त को ही आधार माना ।

पंचांग बनाते वक्त प्रत्येक ज्योतिषी उपर्युक्त सिद्धान्तों में से किसी न किसी सिद्धान्त का पालन करता है । इन सभी सिद्धान्तों का मूल सिद्धान्त एक ही है । उनमें भिन्नता है तो केवल गणना करने में समय के नाम की । उदाहरणार्थ महाराष्ट्र और उत्तर भारत के पंचांगों में भिन्नता का कारण यह है कि वे अश्विनी नक्षत्र और मेष राशि को सूर्य सिद्धान्तीय मेष राशि के आदि बिन्दु से लगभग 4 अंश दिन से पहले ही मान लेते हैं । इस कारण महाराष्ट्र में मेष संक्रांति लगभग 4 दिन से पहले ही मान ली गयी हैं । इससे अधिक मासों में बड़ी भिन्नता रहती है । पंचांगों की विभिन्नता के कारण राष्ट्रीय और ऐतिहासिक घटनाओं की तिथियों का निश्चय करने में काफी कठिनाई आती है । ज्योतिषियों की यह धारणा ठीक नहीं है कि 'सूर्य -सिद्धान्त' ही आर्ष ग्रन्थ है । अत: जितनी गणना हो वह सब सूर्य-सिद्धान्तों ही के अनुसार हो । क्योंकि इसका कोई प्रमाण नहीं है कि सूर्य -सिद्धान्त वास्तव में मूल रूप में क्या था और कालान्तर में उसमें क्या क्या संशोधन हुए हैं । यदि मध्यकालीन ज्योतिषी सूर्य -सिद्धान्त को आर्य ग्रन्थ मानते तो वे अन्य नये ग्रन्थ लिखकर सूर्य -सिद्धान्त से भिन्न मत का प्रचार न करते ।

भास्कराचार्य के बाद लगभग 400 वर्षों तक कोई विशेष उल्लेखनीय ज्योतिषी नहीं हुआ । लोगों का ध्यान ज्योतिष की ओर कम गया तथा इसके फलस्वरूप बड़ी-बड़ी भूले होने लगी । ई. सन् 1730 के लगभग जयपुर नरेश सवाई जयसिंह ने देखा कि वेध और गणना में काफी अंतर आने लगा है अत: उसने ज्योतिष की गलतियों को दूर करने के लिए जयपुर, दिल्ली, बनारस, तथा उज्जैन में वेधशालाएं बनवाई तथा इसमें यन्त्र पत्थरों के बनवाये । ये 'यंत्र मन्दिर' अरब सर्वत्र 'जंतर- मंतर' के नाम से प्रसिद्ध हैं । इन वैधशालाओं में बहुत कुछ उपयोगी कार्य हुआ । स्वयं जयसिंह कुशल ज्योतिषी था । उसने स्वयं यूरोप की प्रचलित तारासूचियों में कई भूलें निकाली । उसने कई ज्योतिषियों को राज्याश्रय दिया, तथा ज्योतिष के काम को आगे बढ़ाया ।

ज्योतिष में अनुसंधान कार्य बराबर चल रहा है । भारत सरकार ने भी वेधशालाएँ स्थापित की है । जो आधुनिकतम यंत्रों से सुसज्जित है तथा अपनी रिपोर्ट बराबर प्रकाशित करती रहती है । अब भारत सरकार द्वारा प्रति वर्ष पंचांग भी प्रकाशित हो रहा है । तारो के संबंध में अनुसन्धान कार्य भी बराबर चलता रहता है ।

27.4 काल- गणना

27.4.1. चन्द्र तथा चन्द्र- सौर काल गणना

आकाश में सूर्य का पथ तथा समय बिल्कुल निश्चित है । सौर वर्ष आज से लगभग 3000 वर्ष पूर्व 365. 2425 दिनों का होता था और अब 365. 2422 दिनों का होता है । इतने वर्षों में .0003 दिन अर्थात् 3300 वर्षों में केवल । दिन का अंतर नगण्य है । अत: समय गणना के लिये सौर वर्ष बहुत अच्छा साधन है लेकिन प्राचीन काल में मिश्र ही एक ऐसा देश था जिसने गणना के लिये सौर पंचांग अपनाया था ।

एक अमावस्या से दूसरी अमावस्या अथवा एक पूर्णिमा से दूसरी पूर्णिमा तक के समय को चन्द्रमास कहते हैं । पहले को अमान्त चन्द्र मास और दूसरे को पूर्णिमान्त चन्द्र मास कहते हैं । चन्द्रमास का मान 29.246 से 29.817 दिनों (लगभग 14 घंटों का अंतर) तक का होता है । चन्द्र मास का औसत समय 29. 530588 दिनों (29 दिन 12 घंटा 44 मिनट 2.86 सैकण्ड) का होता है । चन्द्रमास का एक निश्चित मान नहीं होने के कारण ज्योतिषियों के लिये एक कठिन समस्या बनी हुई है । इस समस्या को दूर करने के लिये सौर वर्ष के मान तथा चन्द्रमा के मध्य संयुति काल की गणना कर चन्द्र व सौर समय का समायोजन किया गया है । इसके लिए यह गणना लगायी गयी कि 19 सौर वर्षों में 6939.60 दिन होते हैं तथा 365 चन्द्र मासों में 6939. 69 दिन होते हैं, अर्थात् इनमें केवल 09 दिन (75.96 सैकण्ड) अर्थात् 210 वर्षों में 1 दिन का अन्तर रहता है । 235 चन्द्र मासों में 19 वर्ष 7 महीने होते हैं । इन 7 अधिक मासों को 19 वर्षों के चक्र में इस नियम से लगाया गया है कि चन्द्र मासों से गणना करने पर भी सौर वर्षों से मेल बैठ जाता है । सामान्यत: एक अधिक मास 32 महीना 16 दिन और 4 घंटी के अंतर पड़ता है । अधिमासों की गणना हमारे यहीं वैदिक काल से चली आ रही है । अधिमासों की गणना के नियम अन्य देशों - बाबुल, यूनान आदि में भी बने हुये थे । अत: प्राचीन काल से ही भारत, यूनान, रोम आदि में चन्द्र सौर पंचांग अपनाया गया था ।

27.4.2 अधिक मास और क्षय मास

सौर मास की गणना वाले वर्ष में लगभग 365 दिन 6 घंटे होते हैं लेकिन चन्द्र मास वाले लगभग 354 दिन 9 घंटे होते हैं इस कारण कभी कभी किसी सौर मास में दो चन्द्र मास आ जाते हैं । ऐसे दोनों मासों का नाम और मास चन्द्र वाला होगा । लेकिन प्रथम चन्द्र मास अधिमास व बाद वाला शुद्ध या निज मास कहलाता है । अधिमास को मलमास, संसर्प, अहंसस्पति पुरुषोत्तम मास आदि भी कहते हैं । मलमास कहलाने का कारण इसे. काल का मल समझना है । जब एक वर्ष दो अधिमास हो और एक क्षय मास हो तो दोनों अधिमासों में प्रथम संसर्प कहा जाता है । यह मास विवाह को छोड़कर अन्य धार्मिक कृत्यों के लिये निन्द्य माना जाता है । अहंसस्पीत क्षस मास तक सीमित है । अहंसस्पति का शर्ग़ब्देक अर्थ है " पाप का स्वामी' ' । कुछ पुराणों मे अधिमास को पुरुषोत्तम मास कहा जाता

है । विष्णु को पुरुषोत्तम कहा जाता है । सम्भव है कि अधिमास की निन्धता को कम करने के लिये इसे यह नाम दिया गया हो।

जिस मास में दो संक्रातियाँ होती हैं और जिसमें चन्द्रोदय नहीं होता है वह मास क्षय मास कहलाता है । क्षय मास के पूर्व तथा बाद के 6 महिनों में अधिमास अवश्य होता है। क्षय मास कभी 141 वर्ष में तो कभी 19 वर्ष में भी पड़ जाता है ।

अधिमास सभी चन्द्रमासो में, सिवाय पौष व माघ के, हो सकते हैं लेकिन क्षय मास मार्गशीर्ष, पौष व माघ के ही हो सकते हैं ।

27.4.3 राशि व संक्रान्ति

आकाश में सूर्य तारों के बीच जिस दीर्घ वृत्ताकार मार्ग से परिक्रमा करता है वह क्रांतिवृत्त कहलाता है । आकाश में सूर्य का पथ बिछल निश्चित है लेकिन चन्द्रमा व अन्य ग्रह इस. क्रातिवृत्त से 9 अंश दक्षिण तक की एक अण्डाकार मेखला (बेल्ट) तक भ्रमण करते हैं जिसकी कल्पना ज्योतिषियों द्वारा की गई है जो राशिचक्र कहलाता है । इस मेखलाका चक्र 30 - 30 अंशों के 12 भागों में बांटा गया है । प्रत्येक 30 अंश का भाग राशि कहलाता है । जब सूर्य एक राशि अर्थात् क्रांतिवृत्त के 30 अंश की परिक्रमा समाप्त कर दूसरी राशि में प्रवेश करता है तब संक्रान्ति कहलाती है । जहाँ क्रांतिमण्डल और विषुवदवृत मिलते हैं वह राशि उस तारा समूह के नाम से मेष कहलाती है । इसके बाद में निम्न राशियाँ ' क्रमानुसार आती हैं - वृषभ, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ, मीन । इन तारों के समूह की जैसी शक्लें हैं । वैसे ही उनके नाम दिये गये हैं । सूर्य का विभिन्न राशियों के प्रवेश, यानि संक्रांति, दिन के किसी समय हो सकती है । ज्योतिष के अनुसार सौर माह उसी वक्त आरम्भ हो जाता है और आगामी संक्रांति तक रहता है लेकिन लौकिक प्रयोजनों के लिये मास उस दिन के सूर्योदय से प्रारम्भ होना चाहिए या उसके बाद वाले दिन से इसके लिए अलग- अलग नियम हैं जो इस प्रकार है ।

बंगाल में यदि संक्रांति सूर्योदय व अर्धरात्रि के बीच के समय हो तो अगले दिन, यदि वह अर्द्धरात्रि के बाद हो तो उसके तीसरे दिन सौर माह प्रारम्भ होता है । यदि संक्रांति अर्द्धरात्रि के 24 मिनट पहले या बाद में हो तो सूर्योदय की तिथि को देखकर गणना की जाती है । यदि कर्क संक्रांति अर्द्धरात्रि के 48 मिनटों में पड़ जाती है तो महीना अगले दिन आरम्भ होता है और यदि मकर संक्रांति उस समय में होती है तो महीना तीसरे दिन आरम्भ होता है अन्य संक्रांतियों में यदि

सूर्योदय की तिथि संक्रांति के क्षण तक रहे तो वह महीना अगले दिन से प्रारम्भ होता है । लेकिन यदि तिथि संक्रांति के पहले समाप्त हो जाती है तो वह महीना तीसरे दिन आरम्भ होता है । उड़ीसा में संक्रांति के दिन ही महीना आरम्भ हो जाता है । तमिलनाडु में यदि संक्रांति सूर्योदय के पहले हो तो महीना उस दिन ही प्रारम्भ हो जाता है । लेकिन यदि सूर्यास्त के बाद हो तो महीना अगले दिन आरम्भ होता है । केरल में यदि संक्रांति सूर्योदय व मध्यान्ह के बीच हो तो महीना उस दिन आरम्भ हो जाता हे अन्यथा अगले दिन आरम्भ होता है ।

27.4.4 अमान्त और पूर्णिमान्त

भारत के तिथिपत्रको में चन्द्रमासों का प्रयोग दो प्रकार अमान्त और पूर्णिमान्त से होता है। अमान्त या मुख्य चन्द्रमास शुक्ल पक्ष से आरम्भ होता है और अगले शुक्ल पक्ष के आरम्भ तक रहता है । इसमें महीनों का वही नाम होता है जो सौर मास का होता है । चन्द्रमास सौर मास के किसी दिन प्रथम दिन से अंतिम दिन तक से आरम्भ हो सकता है । पूर्णिमान्त या गौण चन्द्रमास पूर्णिमा के अन्त होने पर आरम्भ होता है और आगामी पूर्णिमा तक रहता है यह अमान्त माह के नये चन्द्र के उदय से एक पक्ष पहले आरम्भ होता है । और इसका नाम उक्त महीने के नाम से ही होता है । यह माह पूर्ववर्ती सौर माह के आखिरी पक्ष और उस सौर माह के प्रथम पक्ष के किसी दिन से आरम्भ हो सकता है । पूर्णिमा से नये चन्द्र तक का समय कृष्ण पक्ष या सुदि कहलाता है तथा नये चन्द्र से पूर्णिमा तक का समय शुक्ल पक्ष या सुदि कहलाता है ।

चैत्रादि संवत् चैत्र शुक्ला प्रतिपदा से, आषाढ़ी संवत् आषाढ़ शुक्ला प्रतिपदा से तथा कार्तिकी संवत् कातिक शुक्ला प्रतिपदा से आरंभ होते हैं । राजस्थान, पंजाब, उत्तर प्रदेश आदि उत्तर भारत के राज्यों में पूर्णिमा और गुजरात, महाराष्ट्र, आन्ध्र, तमिलनाडु आदि दक्षिण-राज्यों में अमान्त चन्द्रमास का प्रचलन है ।

27.4.3 अयन

एक वर्ष में दो अयन होते हैं-उत्तरायण और दक्षिणायन । सूर्य के उदय और अस्त होने का स्थान बराबर बदलता रहता है । छः महीने तक सूर्य के उदय और अस्त होने का स्थान उत्तर की ओर प्रतिदिन हटता जाता है । इसमें दिन बढ़ते व रातें घटती जाती हैं । यह मकर संक्रांति से आरम्भ होता है और उत्तरायण कहलाता है । कर्क संक्रांति से द्य दक्षिण की ओर छः महीने तक हटता चला जाता है । इसमें दिन घटता ओर रातें बढती चली जाती हैं । यह दक्षिणायन कहलाता है ।

27.4.6 बसन्त विषुव

वह बिन्दु जहाँ जब सूर्य 'आता है तब भारत तथा विषुवत रेखा के उत्तर के सभी स्थानों में 12 घंटे का दिन होता है, बसन्त विषुव कहलाता है । इस बिन्दु से हटने के बाद दिन 12 घटे से उतना ही छोटा होता जाता है । यह बिन्दु प्रतिवर्ष 50 विकला के लगभग पश्चिम में खिसकता है । ज्योतिषी इसे अयन चलन या बसंत सपात चलन कहते हैं । अभी यह बिन्दु चैत्र पक्षीय आरंभ स्थान से 23 अंश 19 कला के लगभग पश्चिम में है इस अन्तर को अयनांश कहा जाता है । इससे मेष संक्रांति में 23 दिन का अन्तर आ गया है ।

27.4.7 ग्रहण

आकाश में सूर्य स्थिर है । आकाश के वे पिण्ड जो सूर्य की परिक्रमा किया करते है, राह कहलाते हैं । ऐसे ग्रह 9 हैं - बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, गुरु, शनि, इन्द्र (यूरेनस), वरुण (नेप्च्युन) और अतिशाने (हर्षल) । वे पिण्ड जो ग्रहों की परिक्रमा करते हैं और ग्रहों के साथ सूर्य की भी परिक्रमा किया करते हैं, उपग्रह कहलाते हैं । पृथ्वी का उपग्रह चन्द्रमा है । चन्द्रमा पृथ्वी में सबसे निकट (दूरी 2 लाख 8 हजार मील) का पिण्ड है और इसका व्यास 2,160 मील है । सूर्य पृथ्वी से 9 करोड़ 30 लाख मील दूर है । इसका व्यास 8 लाख 64 हजार मील है । पृथ्वी यदि परिक्रमा करते- करते सूर्य व चन्द्रमा

के बीच आ जाती है तो सूर्य का प्रकाश चन्द्रमा तक नहीं पहुँच पाता है अत: चन्द्रमा स्पष्ट दिखाई नहीं देता है । इसे चन्द्र ग्रहण कहते हैं । यह संसार के प्रत्येक भाग एक समय पर ही होता है । पूर्ण चन्द्रग्रहण 3.5 घंटा से 4 घंटा तक तथा आशिक चन्द्रग्रहण 2.5 से 3.25 घंटा तक रहता है ।

कभी-कभी चन्द्रमा सूर्य व पृथ्वी के बीच आ जाता है । तब सूर्य का प्रकाश पृथ्वी के सभी भागों पर नहीं पहुँच पाता है । उसे सूर्य ग्रहण कहा जाता है । चन्द्रमा सूर्य के प्रकाश को पृथ्वी के सभी भागों पर पहुँचने से एक समय पर ही नहीं रोक सकता है अत सूर्य ग्रहण सभी स्थानों पर एक समय पर नहीं दिखाई देता है ।

एक ग्रहण सामान्यत: 18 वर्ष में 11 .33 दिनों या यदि बीच में 5 लौंद वर्ष आ जावे तो 18 वर्ष में 10.33 दिन के बाद दुबारा होता है । यथा 13 अप्रेल 1949 के चन्द्र ग्रहण के बाद 24 अप्रेल 1967 को फिर चन्द्र ग्रहण हुआ, तथा 28 अप्रैल 1949 के सूर्य ग्रहण के बाद 9 मई 1967 को फिर सूर्य ग्रहण हुआ । सूर्य ग्रहण सदा अमावस्या को व चन्द्र ग्रहण सदा पूर्णिमा को होता है । भारत के प्राचीन शिला लेखों, ताम्रपत्रों, दस्तावेजों आदि में इनका प्रयोग बहुत ज्यादा मिलता है । अत ग्रहणों का इतिहास में बहुत महत्व है ।

ग्रहण के एक युति काल में (18 वर्ष 11 .33 दिन) 71 ग्रहण-42 सूर्य के और 29 चन्द्रमा के होते हैं । सर्वग्रास सूर्य के ग्रहण 28 होते हैं लेकिन यह एक स्थान से बहुत दिनों के पश्चात दिखाई देता है जब कि चन्द्र ग्रहण एक स्थान से सूर्य ग्रहण से ज्यादा दिखाई देता है । सामायत: एक स्थान से 7 सूर्य व 18 चन्द्र ग्रहण दिखाई देते हैं । शेष 46 ग्रहण विभिन्न स्थानों से दिखाई देते हैं । एक वर्ष की अवधि से ज्यादा से ज्यादा 7 ग्रहण दिखाई देते हैं ।

27.4.8 तिथि

भारत के सभी पंचांगों में दिनों की गणना सौर या चन्द्र गणना के अनुसार होती है । बंगाल, उड़ीसा, आसाम, मंलावार व तमिलनाडु में सौर गणना से दिनों की संख्या गिनी जाती है । उनमें सौर मास दिये जाते हैं । एक सौर मास में 29 से 32 दिन हो सकते हैं । तिथि दिन के किसी समय आरम्भ हो सकती है । भारत के अन्य भागों में चन्द्र गणना से. दिन गिने जाते है । सूर्योदय के समय की तिथि लौकिक कार्यो के लिए उस दिन की तिथि गिनी जाती है । लेकिन ज्योतिष के लिये वह तिथि तत्काल बदल जाती है ।

एक चन्द्रमाह में 29 या 30 दिन होते हैं । इन दिनों की गणना 1 से 20 या 30 तक नहीं होती है । इसका तिथि पत्रक दो भागों- शुक्ल पक्ष, व कृष्ण पक्ष में बटा होता है । एक पक्ष में 14 या 15 दिन होते हैं । तिथि सूर्य व चन्द्र की स्थितियों द्वारा नापी जाती है । ज्यों-ज्यों चन्द्रमा सूर्य से 12 अंश दूर हटता जाता है एक तिथि समाप्त होकर दूसरी तिथि आरम्भ होती जाती है इस प्रकार एक अमावस्या से दूसरी अमावस्या तक एक क्रांति वृत के 360 अंश पूर्ण हो जाते हैं । एक तिथि औसतन 23 घंटा 37 मिनट 30 सैकण्ड तक रहती है । वह ज्यादा से ज्यादा 26 घंटा 47 मिनट और कम से कम 19 घंटा 59 मिनट तक रहती है । अत: कभी-कभी तिथि एक सौर दिन में ही आरम्भ होकर समाप्त हो जाती है । ऐसी तिथि क्षय तिथि कहलाती है और उसके बाद वाले दिन अगली तिथि गिनी जाती है । उदाहरणार्थ, यदि सूर्योदय के समय तिथि चौथ थी लेकिन उस दिन सूर्योदय के बाद पंचमी आरंभ होकर दूसरे दिन के सूर्योदय के पहले ही वह समाप्त हो गई तो आगामी दिन सूर्योदय की तिथि छठ

होगी और तिथि पत्रक में इस क्रम से लिखी जावेगी 3,4,6,7 आदि । पंचमी लिखी ही नहीं जावेगी । कभी कभी एक तिथि दो सूर्योदय तक चलती है । उदाहरणार्थ, यदि चौथ की तिथि सूर्योदय से आरंभ होकर दूसरे दिन के सूर्योदय तक रहे तो दोनों दिन चौथ मानी जावेगी । तिथि पत्रक में तब तिथियाँ 3,4,4,5 आदि के क्रम से लिखी जावेगी ।

तिथियों का घटना बढना चन्द्रमा और सूर्य के भोगांश के समान गति से नहीं बढने के कारण होता है । यों चन्द्र मास लगभग 2950 दिन का होता है और उसमें 30 तिथियाँ होती है । अत: अधिकतर तिथियों का क्षय ही होता है ।

पंचांगों में समय की इकाई घटी में दी जाती है । एक घंटा में 2।। घटी होती है । एक घटी में 60 पल और एक पल में 60 विपल होते हैं । अत: यदि किसी तिथि से समान घटी व पल लिखे हों तो समझना चाहिए कि वह तिथि सूर्योदय के इतने घटी व पल के बाद समाप्त हुई । पंचांगों में संक्रांतियों के सामने भी घटी व पल लिखे जाते हैं । जिसका अर्थ होता है कि वह संक्रान्ति इतने घटी एवं पल पर प्रारम्भ हुई ।

यदि शुक्ल प्रतिपदा 34 घटी से अधिक हो तो उस दिन चन्द्रमा नहीं दिखाई देगा । लेकिन यदि उससे कम हो तो चन्द्रमा उसी दिन दिखाई देगा ।

इसवी सन् की जिस तारीख को अमावस्या या कोई अन्य तिथि पड़ती है उसके ठीक 19 वर्ष बाद फिर अमावस्या तिथि पड़ती है । यथा सन् 1958 की 11 नवम्बर को विस. 2015 की कार्तिक की अमावस्या थी । सन् 1977 की 11 नवम्बर, सन् 1996 की 11 नवम्बर व सन् 2015 की नवम्बर 11 को भी कार्तिक अमावस्या पड़ेगी । कभी कभी एक दिन का अंतर आ जाता है ।

आधी तिथि के समय को, जब कि चन्द्र सूर्य से 6 अंश आगे बढ़ता है, करण कहते हैं । करण कुल 11 हैं - बब, बालव कौलव, तैतिल, गरज बाणिज, शकुनि, नाग, चतुष्पद व किंस्तुध्य । प्रत्येक तिथि में दो करण बीतते हैं । शुक्ल प्रतिपदा के उत्तरार्द्ध में बब नामक करण होता है । कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी के दूसरे आधे भाग को शकुन कहते हैं । प्रथम सात करण चार कहलाते हैं और अत के चार करण स्थिर कहलाते हैं ।

27.4.9 नक्षत्र

तारों के बीच पश्चिम से पूर्व की ओर खिसकता हुआ सूर्य जिस मार्ग से वर्षभर में एक चक्कर लगाता हुआ दिखाई पड़ता है उसको क्रातिवृत्त कहते हैं । इसी के आसपास चन्द्रमा भी चक्कर लगाता है । चन्द्रमा अपनी मध्यम गति से 27 दिन 12 घटी 18 पल और 16 विपल (27 दिन 7 घंटा 43 मिनट 11.5 सैकण्ड) में क्रांन्तिवृत का एक चक्कर लगाता है । चन्द्रमा के इस मार्ग में 27 वे भाग को नक्षत्र कहते हैं । चन्द्रमा जिस नक्षत्र में जितने समय तक रहता है उतने समय तक उस नक्षत्र की गणना होती है । जैसे यदि अश्विनी नक्षत्र 6 बजे प्रात: काल से 4 बजे तक रहे तो कहते हैं कि 6 बजे से 4 बजे तक अश्विनी नक्षत्र है । चन्द्रमा की गति सदैव समान नहों होती है । इस कारण नक्षत्र का मान भी सदा समान नहीं होता है । यों औसतन 1.01191 दिन (1 दिन 18 मिनट) तक एक नक्षत्र रहता है । इसका आरंभ और अंत भी दिन में किसी समय हो सकता है । नक्षत्र 27 हैं- अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य अश्लेषा, मघा, पूर्वाफस्मृनी, उत्तराफान्तुनी, हस्त, चित्रा, स्वाति, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल पूर्वाषाढा, उत्तराषाढ़ा, श्रावण,

घनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वाभाद्रपद, उत्तराभाद्रपद और रेवती । वैदिक काल मे तिथियों के स्थान पर नक्षत्रों से गणना की जाती थी । नक्षत्रों के कुछ नाम ऋग्वेद में मिलते हैं । लेकिन सभी नक्षत्रों के नाम यजुर्वेद में ही मिलते हैं ।

27.4.10 दिन एवं सप्ताह

दिन शब्द के दो अर्श होते हैं - 1 सूर्योदय से सूर्यास्त त्क का समय 2 सूर्योदय से सूर्योदय तक । दिन के आरम्भ के विषय में कई मत है । मुसलमान दिन का आरंभ सायंकाल से मानते हैं। भारतीय दिन का आरंभ सूर्योदय से मानते हैं । आधुनिक लोग दिन का आरंभ अर्द्धरात्रि से मानते हैं। समस्त विश्व में सात वार ही माने जाते हैं । सप्ताह केवल मानव निर्मित व्यवस्था है । यह ज्योतिष शास्त्रीय या प्राकृतिक योजनाबद्ध नहीं है । दिनों के नाम पृथ्वी और सूर्य से अधिक संबंध रखने वाले सात ग्रहों की कक्षाओं के अनुसार सात वार निश्चित किये गये है 1 - सूर्य (रवि) चन्द्र (सोम), मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र और शनि । सृष्टि का आरंभ रविवार से हुआ अतः इसे सप्ताह का प्रथम दिन माना जाता है । सप्ताह के दिनों का क्रम ग्रहों की दूरी, प्रकाश महत्ता आदि के कारण नहीं है । सप्ताह का अर्थ ही सात दिन है । भारत के वारों का उल्लेख ई. सन् 484 से मिलता है ।

27.4.11 मानक समय

पृथ्वी 24 घंटों में अपनी धुरी का एक चक्कर पूरा कर लेती है । अर्थात् 24 घंटे में 360 अंश अर्थात् चार मिनट में एक अंश पार कर लेती है । पृथ्वी पश्चिम से पूर्व की ओर घूमती है और इस कारण पूर्व के देशों में पहले सूर्योदय होता है । और पश्चिम के देशों में बाद में । यही कारण है कि भिन्न भिन्न स्थानों पर समय भी भिन्न भिन्न होता है । यह समय स्थानीय समय कहलाता है । स्थानीय समय भिन्न भिन्न होने के कारण विश्व के विभिन्न देशों में अव्यवस्था फैल सकती है । इस कारण विश्व भर के समय को एक रूप रखने के लिए एक रेखा निश्चित की गई है जो ग्रीनवीच रेखा कहलाती है । उसी रेखा को स्थिर मध्याह्न रेखा मान लिया गया है । भारत का समय ग्रीनविच के समय से सदैव 5 घंटा 30 मिनट आगे रहता है । अब पृथ्वी के किसी स्थान के समय ज्ञात होने पर ग्रीनविच से उसकी दूरी और किसी स्थान पर देशान्तर देख कर उस स्थान के सही समय का पता लगा सकते हैं । जो स्थान ग्रीनविच से पूर्व मे हो तो उस स्थान के समय में प्रत्येक देशान्तर के अनुसार चार मिनट जोड़ने से और जो स्थान ग्रीनविच से पश्चिम में हो तो उस स्थान के समय में प्रत्येक देशान्तर के अनुसार 4 मिनट घटाने से उस स्थान का समय जाना जा सकता है । भारत में सूर्योदय का मानक समय (स्टेण्डर्ड टाईम) ग्रीनविच से पूर्व 75^0 46^0 6 '' रेखांश एवं 23^0 11 ' उत्तर अक्षांश पर उज्जैन के स्थानीय समय से माना जाता है । सूर्योदय (जब सूर्य बिम्ब की ऊपरी कोर आकाश में दिखाई देती है) व सूर्यास्त (जब सूर्य बिम्ब की ऊपरी कोर आकाश में छिपने लगती है) का समय बराबर बदलता रहता है ।

27.5 पंचांग

27.5.1 प्रस्तावना

समय को सबसे महत्त्वपूर्ण इकाई वर्ष है । प्राचीनकाल से ही सही तिथि जानने के लिये दिनों व महिनों के अलावा वर्षों की भी गणना करनी पड़ती थी । ऐसे वर्षों का क्रम बराबर चलता रहना चाहिए। इससे किसी देश का इतिहास जानने में बड़ी सुविधा होती है लेकिन इतिहास की भावना सभी देशों में बहुत बाद मे आई । जब लोगों में इतिहास की भावना जागृत हुई तब ही संवतें का प्रचलन हुआ । हमें बेबीलोनीया, मिश्र, भारत, आदि में राजाओं के राजगद्दी पर बैठने के वर्षों का उल्लेख मिलता है लेकिन इससे बराबर क्रम नहीं मिलता है । जब तक सही वंश-वृक्ष ज्ञात न हो उनके समय का सही ज्ञान नहीं होता है । उनके समय को सही रूप से जानने के लिए अन्य साधन अपनाने पड़ते हैं । लेकिन तब भी पूर्णतया सही वर्ष नहीं ज्ञात होते है । यही कारण है कि हम सम्राट अशोक की राजगद्दी पर बैठने का पूर्णतया सही वर्ष नहीं बतला सकते हैं । अभी तक इतिहास यही अटकल लगाये बैठे हैं कि वह ई. पूर्व 273 व 264 के बीच राजगद्दी पर बैठा । अत: राजगद्दी पर बैठने की तिथि से संवत् का उल्लेख करना ही वर्ष जानने में ज्यादा सहायक नहीं होता था ।

27.5.2 संवतों का प्रारम्भ

बराबर क्रम से चलने वाले वर्षों की श्रृंखला के प्रचलन के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण कदम बाबुल के बादशाह नबू नजीर के शासन काल में ई. पूर्व 747 में उठाया गया । तब कुछ ग्रहों के असाधारण रूप से इकट्ठे होने पर 26 जनवरी से एक संवत् यह घोषित कर चलाया गया कि वह देवताओं के आदेश से चलाया जा रहा है लेकिन यह संवत् ज्योतिषियों तक ही सीमित रहा । साधारण जनता में इसका प्रचार नहीं हुआ । इस संवत् की देखादेखी यूनान व रोम में भी चलाये गये ओर वे क्रमश: 776 ई. पूर्व से चालू बतलाये गये, लेकिन ये दोनों संवत् वास्तव में छठी शताब्दी ईसा पूर्व के लगभग प्रचलित किये गये थे । ईसा पूर्व 312 में बाबुल जीत कर सित्युकस ने भी अपने नाम से संवत् चलाया । इसके महीने चन्द्र-गणना के अनुसार थे लेकिन इनका समायोजन सौर वर्ष से किया गया था । इसके लिये 19 वर्षों में 7 अधिकमास होते थे । सिलुकस के बाद पार्थियानो ने ई पूर्व 248 में अपना संवत् चलाया। पार्थियनों का साम्राज्य तक्षशिला तक फैला हुआ था । ई पूर्व 60 के लगभग मध्य एशिया के शकों ने अफगानिस्तान पर कब्जा कर लिया और इसके बाद वे तक्षशिला गुजरात मालवा व मथुरा आदि पर आक्रमण करने लगे । शकों का पार्थियनों से तथा भारतीयों का शकों से अब बराबर सम्पर्क होने लगा । इन लोगों से सम्पर्क में आने से यहां भी क्रमानुसार संवत् का प्रचलन हो गया ।

27.5.3 भारत में संवतो का प्रचलन

शकों के आने से पहले वेदांग ज्योतिष के अनुसार यहां वर्ष गणना की जाती थी । लेकिन अब सूर्य सिद्धान्त तथा अन्य सिद्धान्तों के अनुसार वर्ष गणना की जाने लगी । ई. सन् 400 के लगभग वेदांग ज्योतिष के अनुसार वर्ष गणना की जानी बन्द सी हो गई । ई. सन् 400 व 1200 के बीच सम्पूर्ण भारत में "सिद्धान्त" ज्योतिष के अनुसार पंचांग बनने लगे । शक संवत् का प्रचलन सर्वत्र हो गया । अलग अलग राजा अपने नाम से भी संवत् चलाने लगे । ये अपनी राजगद्दी पर बैठने के वर्ष से अपना राज्य संवत् चलाते थे । ये संवत् या तो सूर्य सिद्धान्त, आर्य सिद्धान्त या ब्रहम सिद्धान्त पर आधारित

थे । धार्मिक गणना के लिय सम्पूर्ण भारत में तथा हिन्दू राजाओं के राज्यों में इसी प्रकार वर्ष गणना वर्तमान काल तक चलती रही । लेकिन ई. सन् 1200 के बाद जहाँ जहाँ मुसलमानों का राज्य स्थापित हुआ उन्होंने लौकिक व प्रशासनिक प्रयोजनों के लिए हिजरी सन् का प्रचलन किया । हिजरी सन् में वर्ष गणना चन्द्र मारसे के अनुसार ही की जाती है । ई. सन् 1630 के लगभग बन्द हो गया और पुन: हिजरी सन् का प्रचलन हो गया । ई. स 1564 में सम्राट अकबर ने हिजरी वर्ष गणना समाप्त करके तारीखे ईलाह संवत् चलाया जो सौर गणना पर आधारित था । तारीखें ईलाही का प्रचलन भी 1630 ई. के आसपास समाप्त हो गया और हिजरी संवत् चल पड़ा । ई. सन् 1757 के लगभग अंग्रेजों का भारत में राज्य स्थापन होने के समय से यहाँ ईसवी सन् का तिथि पत्रक, जो ग्रेगरी कलैण्डर नाम से प्रसिद्ध है, लौकिक व प्रशासनिक प्रयोजनों के लिए प्रयोग होने लगा । इसका प्रचार अंग्रेजी शिक्षा के साथ भारत भर में हो गया और हम अब इससे ऐसे चिपक गये हैं कि उसे छोड़ने का कतई नहीं सोचते हैं । यद्यपि, यह बहुत ही असुविधाजनक है । भारत सरकार ने सन् 1957 की 22 मार्च से संशोधित पंचांग चालू किया है लेकिन पिछले 39 वर्षों में इसका प्रयोग कुछ सीमा तक सरकारी विभागों में ही होता आया है । सरकारी विभागों में अब भी सन् चलता है और धार्मिक कार्यो में विभिन्न धर्मावलम्बी अपने-अपने धार्मिक तिथिपत्रको का प्रयोग करते हैं ।

भारतीय इतिहास के अध्ययन के लिये विदेशों के कुछ प्रसिद्ध तिथिपत्रको तथा भारत के तिथिपत्रको का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है । ऐसे संवत् है- कलियुग संवत् (प्रारम्भ तिथि 17 व 19 फरवरी के बीच की रात ई. पूर्व 3102)ए, युधिष्ठर संवत् (आरम्भ ई. पूर्व 2449), लौकिक संवत् (ई. पूर्व. 3076), बौद्ध संवत् (प्रारम्भ ई. पूर्व 544), महावीर निर्वाण संवत् (ई. पूर्व 527), मौर्य संवत् (315 वि. सं. पूर्व), सप्तऋषि संवत् (ई. पूर्व 76), गुप्त संवत् व वल्लभी संवत् (वि. सं. 377 की चैत्र शुक्ला प्रतिपदा), चैदी या कलचुरी संवत् (ई. सन् 249 की 27 अगस्त), गांगेय या श्री हर्ष संवत् (ई. सन् 607 की 3 मार्च), भट्टिक संवत् (वि. सं. 681), कौल्लम संवत (25 अगस्त ई. सन् 920), नेपाली या नेवारी संवत् (ई. सन् 879 की 20 अक्टूबर) चालुक्य वि. सं. (14 फरवरी 1076)ए, सिंह संवत् (वि. सं. 1170 की आषाढ़ प्रतिपदा), लक्ष्मण सैन संवत् (7 अक्टूबर 1179) एवं मददयानन्दाबूद संवत् (सन् 1825 की 16 फरवरी) । ऐसे ही कई अन्य संवत् भी है लेकिन वे कम प्रचलित हैं ।-महत्त्वपूर्ण संवत् निम्न है ।

27.5.4 विक्रम संवत्

इस संवत् का प्रचलन बंगाल के अतिरिक्त संपूर्ण उत्तरी भारत में है । ऐसा माना जाता है कि यह संवत् ई. पूर्व 57 से चालू किया गया । जब कि मालव जाति ने मध्य एशिया से आये शकों पर विजय प्राप्त कर स्वराज स्थापित किया प्रारम्भ में यह संवत् 'कृत संवत्' कहलाता था । बाद में यह संवत विक्रमादित्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ । यह विक्रमादित्य गुप्तवंशी सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य था जो अपनी विद्वता, दानवीरता व पराक्रम के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध है । मालव संवत् उसके राज्यकाल तक मालव प्रदेश, वर्तमान राजस्थान के पूर्वी भाग व मध्य प्रदेश के पाश्वक भाग में ही प्रचलित था अत: उसको भारत के अन्य भागों में भी सर्वमान्य करने के लिए ऐसे प्रतापी सम्राट के नाम से विक्रम संवत् नाम दिया गया । यह नाम भी काफी समय तक लोकप्रिय नहीं हुआ । दसवीं शताब्दी तक के प्राप्त लगभग 52 शिलालेखों में केवल 3 में विक्रम संवत् का नाम मिलता है । इसकी प्रसिद्धि सब से

ज्यादा ग्यारहवीं शताब्दी में हुई जब कि गुजरात के चालुक्य वंशी राजा भीमदेव (सन् 1023-64) के लेखों में विक्रमसंवत् का प्रयोग किया जाने लगा । भीमदेव के वंशजों ने भी विक्रम संवत् का ही उल्लेख अपने लेखों में किया । कन्नौज के गुर्जर प्रतिहारों ने भी इसी संवत् का प्रयोग किया । धीरे धीरे सभी प्रान्तों में विक्रम संवत् का प्रयोग होने लगा और पंचांग इसके अनुसार बनने लगे । इस प्रकार यह संवत् सम्पूर्ण उत्तरी भारत में लोकप्रिय हो गया ।

इस संवत् के महिनों के नाम इस प्रकार है - चैत्र, वैशाख, जेष्ठ, आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, मार्गशीष, पौष, माघ और फाल्गुन । इनके नाम इस मास में पड़ने वाले सौर एवं संस्कृति की एक रूपरेखा' ' महिनों के नाम पर चले हैं । इस संवत् की गणना चान्द्र मास से की जाती है । लेकिन सौर गणित से मिलाने से मेषादि मास सौर पंचांग भी रखा जाता है । प्रत्येक तीसरे वर्ष क्षय मास और अधिमास की क्रिया द्वारा ये दोनों संवत् सौर मास से मिला दिये जाते हैं । उत्तरी भारत में गुजरात को छोड़ कर यह वर्ष चैत्र शुक्ला प्रतिपदा से बदलता है और मास पूर्णिमा तक माना जाता है । अर्थात् चैत्र में केवल शुक्ल पक्ष की 15 तिथियाँ ही गिनी जातीं हैं और उसके बाद वैशाख का महीना तथा आगे के अन्य महीने कृष्ण पक्ष से आरम्भ होते हैं । फाल्गुन की पूर्णिमा तक की 345 तिथियाँ व चैत्र के कृष्ण पक्ष की 15 तिथियाँ इसी वर्ष में गिनी जाती हैं । इस प्रकार 360 तिथियों का एक वर्ष होता है । गुजरात व दक्षिण भारत में वर्ष का आरम्भ कार्तिक से और मास गणना शुक्ल पक्ष से आरम्भ हो कर अमावस्या को समाप्त होती है । इस प्रकार गुजरात और दक्षिण भारत में उत्तर भारत की अपेक्षा कृष्ण पक्ष पहले महीने का ही गिना जाता है लेकिन शुक्ल पक्ष दोनों का समान रहता है। इससे विजया दशमी उत्तर व दक्षिण भारत में आाल्क्न शुक्ला 10 को मनाई जाती है लेकिन दीपावली उत्तर भारत में कार्तिक कृष्ण 30 को और दक्षिण भारत में आश्विन कृष्ण 30 को मनाई जाती है । इसी प्रकार संवत् में भी अन्तर आता है जैसा कि निम्न उदाहरण से स्पष्ट होगा : -

रामनवमी चैत्र शुक्ला 9 को होती है । यह ई. सन् 1978 की 17 अप्रैल को मनाई गई, लेकिन तब उत्तरी भारत में वि. सं. 2035 था लेकिन दक्षिण भारत में तब विक्रम सं. 2034 ही था । इस प्रकार दीपावली के पश्चात् चैत्र शुक्ला तक उत्तरी व दक्षिणी भारत में संवत् की समानता रहती है लेकिन कृष्ण पक्ष में मास का अन्तर रहता है । वैशाख कृष्ण से आश्विन शुक्ला तक संवत् का और कृष्ण पट्टा में महीने का भी अन्तर रहता है ।

अमान्त और पूर्णिमान्त महिनों का मेल इस प्रकार बैठता है ।

अमान्त मास	**पक्ष**	**पूर्णिमांत मास**
फाल्गुन	शुक्ल	
	कृष्ण	चैत्र
	शुक्ल	
चैत्र	कृष्ण	वैशाख
	शुक्ल	
वैशाख	कृष्ण	जेष्ठ
	शुक्ल	
जेष्ठ	कृष्ण	आषाढ़
	शुक्ल	

आषाढ़	कृष्ण शुक्ल	श्रावण
श्रावण	कृष्ण शुक्ल	भाद्रपद
भाद्रपद	कृष्ण शुक्ल	आश्विन
आश्विन	कृष्ण शुक्ल	कार्तिक
कार्तिक	कृष्ण शुक्ल	मार्गशीर्ष
मार्गशीर्ष	कृष्ण शुक्ल	पौष
पौष	कृष्ण शुक्ल	माघ
माघ	कृष्ण पक्ष	फाल्गुन
फाल्गुन	शुक्ल	चैत्र

27.5.5 शक संवत्

यह संवत् चैत्र शुक्ला 1, वि. सं. 135(15 मार्च 78 ई) वासन्तिक विषुव से प्रचलित हुआ, लेकिन यह किसने प्रचलित किया यह अभी तक पूर्णतया निश्चित नहीं है । जहाँ तक ज्ञात हो सका है यह संवत् उज्जैन के शक क्षत्रप चष्टन ने चालू किया । कुछ विद्वानों का मत है कि यह संवत् मध्य एशिया के शकों द्वारा बैक्ट्रीया पर विजय पाने पर चालू किया गया था और शकों ने भारत में अपने राज्य का विस्तार कर यहीं इस संवत् को प्रसिद्ध कर दिया । इन विद्वानों के अनुसार यह संवत् ई. पूर्व 123 के लगभग आरम्भ हुआ था और यूनानी पंचांग के अनुसार अमान्त महीनों में इसकी गणना की जाती थी । तब यह संवत् शक नेता एजस के नाम से एजस संवत् भी कहलाता था । बाद में भारत में जब इस संवत् का प्रचलन हुआ तब इस संवत् का भारतीयकरण हो गया । महीनों के नाम भारतीय हो गये और माह पूर्णिमाना हो गये । बीती दो शताब्दियों (200 वर्षों) का लोप कर दिया गया । इन 200 वर्षों का लोप कर कुषाण वंशी नरेश कनिष्क के नाम पर संवत् नाम कनिष्क भी दिया गया । अत: पुराने शक संवत् 201 से नया संवत् कनिष्क संवत् कहलाने लगा । अस्तु इस संवत् का भारतीयकरण वि. सं. व. 135 में हो गया और पिछले 200 वर्षों में विदेशों में चलाये हुए संवत् को भुला दिया गया । शक जाति के भारत में बसे अपने ज्योतिष ग्रन्थों में इसी संवत् का प्रयोग कर इसको इतना लोकप्रिय बना दिया कि अब भी प्रत्येक भारतीय की जन्मपत्री में शक संवत् का ही प्रयोग होता है । उत्तरी भारत तथा दक्षिणी भारत, दोनों के शक वर्षों का प्रारम्भ अमावस्या योग के ठीक तुरन्त चैत्र शुक्ला प्रतिपदा से होता है । यह अवश्य अंतर है कि उत्तरी भारत में प्रत्येक मास का कृष्णपक्ष शुक्लपक्ष से पूर्व आता है लेकिन दक्षिण भारत में शुक्लपक्ष पहले आता है इस प्रकार उत्तरी भारत का

शक संवत् विक्रम संवत् के साथ प्रारम्भ होता है । दक्षिणी व उत्तरी संवतों के प्रारम्भ के समय यह भी ध्यान देने की बात है कि दक्षिणी संवत् का अंत फाल्गुन शुक्लपक्ष के पीछे, फाल्गुन कृष्ण पक्ष का अमावस्या को माना जाता है, चैत्र कृष्ण अमावस्या को नहीं, यद्यपि विक्रम संवत् के हिसाब से उत्तर भारत में उसी फाल्गुन बदि अमावस्या को चैत्र कृष्ण अमावस्या ही कहेंगे ।

27.5.6 सरकारी शक संवत्

काल गणना के लिए भारतीयों और हिन्दुओं में अब तक लगभग 30 प्रणालियाँ प्रचलित थीं। सामान्यत: पंचांग धार्मिक कार्यों के लिए काम लिया जाता है ।-उसमें मुख्य विषय है- तिथि ओर नक्षत्र जिसकी गणना चन्द्र और सूर्य की स्थितियों के अनुसार की जाती है । लेकिन देशी पंचांगों में तिथि, नक्षत्र आदि का जो समय दिया जाता है वह अत्यन्त भ्रामक होता है । तिथि की समापति के वास्तविक समय के साथ उन पंचांगों में दिया गया तिथि समाप्ति काल का अन्त कभी कभी 6 घंटों तक का भी देखा जाता है । इसका मुख्य कारण पंचांग बनाने वालों का गणित के लिए 'सूर्य सिद्धान्त' पर निर्भर रहना है । अब जबकि वेधशालाओं के द्वारा ग्रह गति के सिद्धान्तों में काफी सुधार हो गया है । सबसे बड़ी गलती तो वर्षमान की है जो पंचांगों का मूलाधार होता है । भारतीय पंचांग वर्षमान 365 दिन 6 घंटा 12.6 मिनट का लेते हैं जब कि शुद्धमान 365 दिन 5 घंटा 488 मिनट है अर्थात् 23.8 मिनट का जो अन्तर है जो पिछले 1400 वर्षों में 23 दिन का अंतर ले आया है । इससे वर्ष जो महाविषुत (बसन्त ऋतु में जिस दिन दिन और रात्रि का मान समान रहता है) संक्रांति से आरम्भ हुआ था अब 23 दिन बाद आरम्भ होने लगा है । अत: पंचांगों में एकरूपता लाने तथा पंचांग में सुधार करने के लिये ई. सन् 1952 में भारत सरकार ने एक आयोग डा. मेघनाथ शाह की अध्यक्षता में नियुक्त किया था । इस आयोग ने भी शक संवत् को राष्ट्रीय मान्यता दी है । अब वि. सं. 2014 की चैत्र कृष्ण 7 शुक्रवार (ई. सन् 1957 की 22 मार्च) से शक संवत् का राज्य कार्यों में उल्लेख होने लगा है । 1957 की 22 मार्च से शक संवत् 1879 की चैत्र कृष्ण 7 को चैत्र माना गया । अब यह संवत् 365 दिनों का होता है और प्रत्येक चौथे प्लुत (लीप ईयर) वर्ष में एक दिन बढ़ा दिया जाता है । इस प्रकार अब वर्षमान 368 दिन 5 घंटा 48 मिनट 46 सैकण्ड माना गया है जो प्रत्यक्ष वेध के अनुसार है । इसके पंचांग में चैत्र, आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष, माघ, तथा फाल्गुन 30 दिनों के और वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़, श्रावण और भाद्रपद 31 दिनों होते हैं । प्रत्येक चौथे वर्ष में चैत्र माह 31 दिनों का होता है। प्रत्येक 22 मार्च को चैत्र 1 पड़ा करेगा लेकिन चौथे वर्ष (लीप ईयर) में 21 मार्च को चैत्र 1 हुआ करेगा। यथा ई. सन् 1960 1968 आदि में यह वर्ष 21 मार्च से प्रारम्भ हुआ करेगा । इस प्रकार शक संवत् व ईसवी के महीनों का एक स्थाई संबंध स्थापित हो गया है ।

नये शक संवत् के पंचांग का प्रभाव सौर और चन्द्र गणनाओं पर भी पड़ता है । अब सौर पंचांग वैशाख की प्रतिपदा के स्थान पर 23 दिन पहले चैत्र प्रतिपदा से प्रारम्भ होता है । समय की गणना भी घटी पल, विपल में न हो कर घंटा, मिनट और सैकण्ड में होने लगी है और दिन का मान सूर्योदय से न होकर ग्रेगोरियन कैलेण्डर की भांति अर्द्धरात्रि से होने लगा है । अब जो भी गणना की जावेगी वह 82.5 अंश पूर्वी रेखांश 23.11 उत्तरी अक्षांश (उज्जैन का अक्षांश) से ही जावेगी । इस प्रकार शक संवत् को राष्ट्रीय मान्यता प्रदान की गई है । हिन्दुओं में अब तक जो काल गणना की लगभग 30 प्रणालियाँ प्रचलित थी उनमें समता लादी गई है । इस काल गणना से अमावस्या, पूर्णिमा आदि की

गणना में कोई अन्तर नहीं आयेगा । लेकिन, चन्द्र गणना तथा प्रत्यक्ष वेध में अब तक जो त्रुटि रहती थी वह भारत सरकार द्वारा प्रकाशित होने वाले पंचांगों में ग्रहों की स्थिति के साथ शुद्ध रूप से ज्ञात होती रहेगी । इस कारण अब भविष्य में कोई अन्तर रहने की सम्भावना नहीं रहेगी ।

अब भारतीय ऋतुएं संशोधित पंचांग के अनुसार स्थाई रूप से निश्चित हो गई हैं - ग्रीष्म-वैशाख और ज्येष्ठ (21 अप्रेल से 21 जून), वर्षा- आषाढ़ और श्रावण, (22 जून से 22 अगस्त) शरद-भाद्र और आश्विन, (23 अगस्त से 22 अक्टूबर), हेमन्त-कार्तिक और अग्रहायण, (23 अक्टूबर से 21 दिसम्बर), शिशिर-पौष और माघ (22 दिसम्बर से 19 फरवरी) तथा वसंत- फाल्गुन और चैत्र (20 फरवरी से 20 अप्रैल) । इस पंचांग के दिनांक भी स्थाई रूप से ग्रेगोरियन पंचांग से मिलते रहेंगे ।

27.5.7 ईसवीं सर

ईसवीं सन् सामान्य रूप से ईसाइयो का सन् है । जो उनके "ईश्वर पुत्र ईसा के जन्म से प्रारम्भ किया माना जाता है । वास्तव में उनके जन्म से 3 वर्ष पीछे से वि. सं. 58 की चैत्र शुक्ला से इसकी गणना आरम्भ की गई । इसका प्रचलन डायेनिसियस एक्सीजस द्वारा ई. सन् 532 के लगभग गणना कर किया गया था । सबसे पहले जर्मनी के चार्ल्स तृतीय के अपने राज्य शासन (879 ई) के साथ "हमारे प्रभु के वर्ष" लगाना आरम्भ किया । इस वर्ष का चैत्रादि विक्रम संवत् व ईसवी सन् में लगभग 56 वर्ष 9 महीन का अंतर रहता है । वि. सं. का प्रारम्भ मार्च या अप्रैल से तथा ईसवीं सन् का प्रारम्भ पौष या माघ माह से होता है । इस सन् का प्रसार छठी शताब्दी से पूर्व नहीं था। छठी शताब्दी से ईसाईयों का धार्मिक संवत् मान लिये जाने पर की । इसका प्रचार पहले यूरोप में और फिर विश्वभर में हो गया।

ईसा मसीह के लिए कहा जाता है कि वे ईस्टर के दिन मृत्यु शैया से उठकर स्वर्ग गए थे अत: ईसाई इस दिन को बहुत ही पवित्र दिन मानते हैं । तथा उनका धार्मिक पंचांग भी इसी दिन से आरम्भ होता है । इस पर्व को नियत करने के लिए ईसाई तत्कालीन यूरोप में प्रचलित रोमन पंचांग की सहायता लेते थे । तब रोमन वर्ष 303 दिन का माना जाता था । जिससे मार्च से दिसम्बर तक 10 मास होते थे । बाद में जनवरी फरवरी दो मास और बढ़ाकर 12 महीने का वर्ष आरम्भ किया गया। रोमन पंचांग पहले चन्द्र गणना के अनुसार 355 दिन के बनते थे लेकिन जूलियस सीजर ने 46 ई. पूर्व से 29 दिन 12 घंटा 44 मिनट 2.87 सैकण्ड (29.5306 दिन) के चन्द्र मास को औसतन 30 दिन 10 घंटे 29 मिनट 4.1 सैकण्ड के सौर मास में बदल दिया । सौर वर्ष वास्तव में 365.2422 दिन का होता है । लेकिन जूलियस सीजर ने उसे 365.25 दिन वर्ष का आरम्भ 25 मार्च से माना । प्रत्येक वर्ष में 365 दिन गिने जाने लगे । ई. सन् 1582 (वि सं. 1639) में यह अन्तर लगभग 11 दिन का हो गया । इससे ऋतुओं में अन्तर आने लगा । अत: पोपग्रेगोरी 13वें, ने ई. सन् 1582 की 5 अक्टूबर, शुक्रवार घोषित कर ईसवीं सन् के बढ़े हुए दिनों को घटा कर पंचांग में संशोधित कर दिया । आगे ऐसी गलती न हो इसके लिए यह नियम बना दिया कि ऐसी पूर्ण शताब्दी के फरवरी मास में ही 29 दिन गिने जावें जो 400 से पूर्णतया विभाजित हो सके । पूर्ण शताब्दियों में नहीं गिना जावे । इस नियम से भी 22.8 सैकण्ड का अन्तर रहेगा । लेकिन यह बहुत कम है । इससे 4000 वर्षों में केवल एक दिन का अन्तर आयेगा । इंग्लैण्ड ने ई. सन् 1752 में जब संशोधन किया तब 3 सितम्बर का 14 सितम्बर मान कर 11 दिन घंटा दिये क्योंकि तब तक 11 दिन का अंतर आ गया था । भारत अंग्रेजों की अधीनता में रहने के कारण यही के इतिहासो में विभिन्न तिथियों में अन्तर इसी कारण मिलता

है । कई इतिहास लेखक तिथियों का उल्लेख पुराने तिथि-पत्रक के अनुसार देते हैं । तथा कई संशोधित तिथि-पत्रक के अनुसार ।

ईसवीं सन् के तिथि पत्रक में पोप ग्रैगरी के द्वारा महत्त्वपूर्ण संशोधित किये जाने के कारण यह ग्रेगोरियन कलैण्डर भी कहलाता है । यह तिथि पत्रक संसार के ज्यादातर देशों में प्रचलित है लेकिन इस तिथि पत्रक में भी अभी तक बहुत कुछ संशोधन की आवश्यकता है । इस तिथिपत्रक में महीने 28 से 31 दिन के मनमाने ढंग से निश्चित कर दिये गये हैं । महीनों के दिनों का ज्योतिष से संबंध नहीं है । प्रत्येक महीने में कितने दिन होते हैं, यह याद रखना असुविधाजनक होता है । प्रत्येक वर्ष व महीने के प्रारम्भ होने के वार बराबर बदलते रहते हैं । आर्थिक दृष्टि से महीनों के कम ज्यादा दिनों के होने से किसी महीने में 24 दिन तो किसी महीने में 28 दिन काम करना पड़ता है । अत: हिसाब व आंकड़े रखने में असुविधा होती है । इस कारण से इसके संशोधन की बराबर मांग की जाती रही है ।

27.5.8 हिजरी सन्

हिन्दुओं में वर्ष गणना के लिए जहाँ लगभग 30 पंचांग प्रचलित है, वहां मुसलमानों की समय गणना केवल एक ही तिथि-पत्रिका-हिजरी सन् से की जाती है । यह संसार के सभी इस्लामी देशों में प्रचलित है । इसका प्रारम्भ ई. सन् 683 के लगभग खलीफा उमर ने किया । यह सन् इस्लाम धर्म के प्रवर्तक हजरत मुहम्मद के मक्का से हिजरत (पलायन) के वर्ष से वि. सं. 679 की श्रावण शुक्ला (ई. सन् 622 की 15 जुलाई) गुरुवार की शाम से आरम्भ किया गया । जबकि मुहर्रम माह का प्रथम चन्द्र दर्शन हुआ है । इसी वर्ष की 20 सितम्बर 622 को हजरत मुहम्मद मक्का से मदीना को गए । ऐसा कहा जाता है कि पहले यह सन् चन्द्र सौर था और आवश्यकतानुसार उसमें अधिमास जोड़े जाते थे लेकिन हिजरी सन् 10 (ई. सन् 632) से यह सन् पूर्णतया चन्द्र वर्ष कर दिया गया । अत: ऐसी दशा में यह सन् ई. सन् 622 की मार्च 19 शुक्रवार की शाम से आरम्भ हुआ ।

चन्द्र का महीना 29 दिन 12 घंटे 44 मिनट 2 - 96 सैकण्ड का होता है । हिजरी माह 29 या 30 दिन का होता है । हिजरी सन् के वर्ष में 354 या 355 दिन होते हैं । यह सौर वर्ष से 10 दिन, 53 घडी 30 पल और 6 विपल (10 दिन, 21 घंटे, 1 मिनट और 12 सैकण्ड) के लगभग कम होता है । तारीख चान्द्र की पहली, चान्द्र की दूसरी आदि कहलाती है । इसकी तारीख सूर्यास्त के साथ बदलती है । प्रत्येक तारीख सायंकाल से प्रारम्भ होकर दूसरे दिन सायंकाल तक मानी जाती है । गणित के अनुसार चन्द्रोदय को पहले से जान लेना मुस्लिम धर्म की दृष्टि से वर्जित है । पंचांग पहले से बनाने की निषेधाज्ञा भारत में औरंगजेब ने भी निकाल दी थी । चन्द्र को देखते ही उनका नया माह आरम्भ हो जाता है । यदि चन्द्र दर्शन प्रतिपदा को हो जाता है तो उस महीने में 30 दिन गिनते हैं ओर यदि चन्द्र दर्शन द्वितीया को हो जाता है तो उस महीने मे 29 दिन हो जाते हैं । चन्द्र दर्शन सभी स्थानों पर एक ही दिन नहीं हो सकता है । तथा देश भेद से और क्षितिज पर आकाश के साफ न होने से चन्द्र दर्शन में एक दिन का अन्तर कभी कभी हो जाता है । हिजरी सन् के महीनों के नाम और दिनों की संख्या इस प्रकार निर्धारित है ।

क्र सं. महीने का नाम	दिन	क्र सं. महीने का नाम	दिन
1. मुहर्रम	30	7. रज्जब	30
2. सफर	29	8. शाबान	29

3. रबीउल अव्वल	30	9. रमजान	30
4. रबोउस्सानी (रबीउल आखिर)	29	10. शव्याल	29
5. जमादीउल अव्वल	30	11. जिल्काद	30
6.जमादउससानी (जमादी उल्ल आखिर)	29	12. जिल्हिज	29

रबीउस्सानी को रबीउल आखिर और जमादीउल आखिर को जमादी उस्सानी भी कहते हैं ।

27.6 इकाई सारांश

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपने यह पाया मनुष्य न प्रकृति के रहस्यों को समझते हुए अपने जीवन क्रम को व्यवस्थित करने हेतु किस प्रकार काल क्रम को विभाजित कर अपनेअपने वातावरणीय परिवेश में उसे ढाला । खगोल व ज्योतिष शास्त्र की उत्पत्ति इसी उत्सुकता एवं व्यवस्था में हुई । काल गणनाओं में आधार चन्द्र व सूर्य की गति के अनुसार तय किया गया । प्रारम्भ में चन्द्र गणनाओं का ही बल बना रहा लेकिन उस गणनाके अनुसार ऋतुओं के काल में अन्तर आने के कारण उसे सौर गणनाओं से व्यवस्थित किया गया । विशेषकर कृषि के विकास से जुड़ी सभ्यताओं में इसके महत्व को अधिक समझा गया । मानव सभ्यता के विकास के साथ काल की छोटी से छोटी इकाई का मापदण्ड भी निर्धारित किया गया ।

भारत में वैदिक सभ्यता से ही अनेक गणनाओं का प्रमाणिक परिचय प्राप्त होने लगता है । पर ऐसा प्रतीत होता है कि इस ज्ञान में विदेशियों विशेषकर पार्थियन, शक व अरबों ने भी इसको व्यवस्थित करने में पूर्ण योगदान दिया । यह तथ्य विभिन्न संवतों के प्रचलन से भी प्रमाणित होता है । भारत में संवतों के प्रचलन की संख्या कम नहीं है । परन्तु, उनमें विक्रम, शक, वल्लभी, युधिष्टर बौद्ध व महावीर निर्वाण संवत् काफी लोकप्रिय रहे हैं कालान्तर में हिजरी एवं ईसवी संवत् का भी खूब प्रचलन हो गया । आधुनिक सरकार ने भी अपना सरकारी शक संवत् लागू किया है । परन्तु, सामान्यजन अपनी परम्पराओं एवं संस्कृति के निर्वाह में अपने ही संवत् विशेषकर विक्रम व हिजरी संवत् का प्रयोग करते हैं, तथा आधुनिक सभ्यता का जीवन व सरकारी कार्यक्रम भी ईसवी संवत् से जुड़ा है ।

27.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

(अ) निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिये -

(1) काल विभाजन के सम्बन्ध में प्राथमिक प्रयास किस दिशा में थे?

(2) अधिक एवं क्षय मास से आप क्या समझते हैं?

(3) सरकारी शक संवत् का प्रचलन क्यों किया गया?

(ब) निम्न प्रश्नों का उत्तर 500 शब्दों में दीजिये: -

(1) प्राचीन भारत में कालगणना को लेकर किस प्रकार के मत स्थापित किये गये?

(2) भारतीय प्रणाली में 'ग्रहण' का क्या कारण एवं महत्त्व है?

(3) हिजरी संवत् के प्रचलन पर एक टिप्पणी लिखिये ।

27.8 प्रासंगिक पठनीय ग्रन्थ

1.	ऐतिहासिक तिथि पत्रक	:	जगदीश सिंह गहलोत, जोधपुर, 1962
2.	वृहत्संहिता	:	वराहमिहिर : सम्पादक, सुधारक द्रिवेदी, बनारस, 1897
3.	सिद्धान्त शिरोमणि	:	भास्कर द्वितीय : सम्पादक, बापूदेव शास्त्री, पूना
4.	भारतीय कालगणना	:	और : सुखवीरसिह : पंचांग हिन्दी साहित्य मंदिर, जोधपुर
5.	इण्डियन कैलेण्डर्स	:	रार्बट स्वैल एवं शंकर बाल किशन दीक्षित
6.	रिपोर्ट आफे दी	:	इण्डियन कैलेण्डर्स देहली, 1955 रिफोमर्स कमेटी

इकाई 28 " युगयुगीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति में आमोद प्रमोद (मनोरंजन) के साधन"

28.1 उद्देश्य

28.2 प्रस्तावना

28.3 भारतीय इतिहास के प्राचीन काल में मनोरंजन का महत्व एवं आमोद प्रमोद के साधन

28.3.1 नदी घाटी सभ्यता काल

28.3.2 वैदिक काल में

28.3.3 मौर्य काल में मनोरंजन के साधन

28.3.4 गुप्त काल में आमोद प्रमोद के साधन

28.4 मध्ययुग में आमोद प्रमोद के साधन

284.1 सल्लनत युग में

28.4.2 मुगल काल में

28.5 आधुनिक भारत के इतिहास एवं संस्कृति में मनोरंजन के साधन

28.6 इकाई सारांश

28.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

28.9 प्रासंगिक पठनीय ग्रन्थ

28.1 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ का उद्देश्य छात्रों को मानव जीवन में मनोरंजन का महत्व स्पष्ट करते हुए यह बताना है कि भारतीय इतिहास के विभिन्न युगों में, लोगों के द्वारा आमोद-प्रमोद के कौन-कौन से साधन अपनाए गए थे । मनोरंजन का नाम एक गहरी सार्थकता को संकेत देता है । मन का रंग जाना । साधनों में समानता तथा शासक एवं शासित समुदाय के द्वारा अपनाए गए साधनों मे विभिन्नता को स्पष्ट करना है । इतिहास के आधुनिक युग में पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव के कारण आमोद-प्रमोद के साधनों में जो परिवर्तन आया, उसका मूल्याँकन करते हुए स्पष्ट करना है कि साधनों के विकास पर अनुकूल अथवा प्रतिकूल प्रभाव पड़ा था । राजस्थान के राजपूत राज्यों में आमोद प्रमोद के जो साधन प्रचलित थे उनका देश के अन्य भागों के साधनों के साथ तुलना करने के पश्चात् उपसंहार मे मानव जीवन की प्रगति में मनोरंजन के महत्त्व को पुनः स्पष्ट करते हुए विवरण की इतिश्री की जाएगी ।

28.2 प्रस्तावना

प्राग ऐतिहासिक युग में जब मानव का उदय हुआ था उस समय भी जीवन के लिए संघर्षरत मानव अपनी उन्नति, सुख समृद्धि एवं जीवनयापन के साधन खोजने के साथ साथ अपने समय को काटने के लिए आमोद प्रमोद का सहारा खोजता था । वृक्षों के तले अथवा गुफाओं में रहने वाला मानव आखेट के द्वारा मनोरंजन करता होगा । एक पन्थ दो काज वाली कहावत को चरितार्थ करते हुए प्राग

ऐतिहासिक युग का मानव भोजन जुटाने के साथ साथ शिकार करते हुए पशुओ की चीख पुकार से आनन्द जुटाता होगा । नदी घाटियों की तलहटी में जीवन व्यतीत करने वाला मानव भी आखेट के द्वारा अपना आमोद प्रमोद करता था । (पाठ्यक्रम की इकाई सं. 6 में इससे संबन्धित विवरण उपलब्ध हैं,) सभ्यता एवं संस्कृति के विकास के साथ साथ मानव ने आमोद प्रमोद के घरेलू साधन खोज लिए थे । पुनर्जागरण के पश्चात् विश्व के विभिन्न देशों में जब वैज्ञानिक आविष्कार होने लगे थे तब भारतीय इतिहास के आधुनिक काल में मनोरंजन के अधिक आकर्षक साधन खोज लिए गए थे । मनुष्य स्वभाव से परिवर्तनशील प्राणी है । संघर्षरत व्यस्त जीवन में आमोद प्रमोद के क्षण खोजना तथा समय का उपयोग करते हुए भरपूर आनन्द उठाते हुए मनोरंजन के द्वारा जीवन को तरोताजा करने का वृतान्त भारतीय इतिहास में उपलब्ध है ।

28.3 प्राचीन काल में मनोरंजन का महत्त्व

28.3.1 नदी घाटी सभ्यता काल

भारतीय इतिहास का विधिवत् प्रारम्भ सैन्धव सरस्वती सभ्यता से हुआ है । विश्व की अन्य नदी घाटी सभ्यताओं के समान भारत में भी आज से पांच हजार वर्ष पूर्व सिंधु व सरस्वती नदी घाटी की तलहटी में श्रेष्ठ मानव सभ्यता का विकास मैदानी भागों में भी हुआ था । इसीलिए आधुनिक समय में बलूचिस्तान, पंजाब, गुजरात, राजस्थान एवं सौराष्ट्र में भी पुरातत्ववेताओं के उत्खननों के द्वारा यह प्रमाणित किया जा चुका है कि सैन्धव सभ्यता का विकास भारत के मैदानी भाग में भी हुआ था।

सिन्धु घाटी के तलहटी के उत्खननों से पहिएदार छोटी गाड़ियों, पशु पक्षियों की आकृति अंकित खिलौने, झुनझुने तथा सीटियाँ प्राप्त हुई हैं । जिनसे यह ज्ञात होता है कि बालक के मनोरंजन के लिए मिट्टी अथवा धातु के खिलौने बनाये जाते थे । पशुओं के बीच लड़ाई करवाना, गोली का खेल' पास के खेल, जुआ उनके आमोद प्रमोद के प्रमुख साधन थे । यह जानकारी भी इतिहासकारों को प्राप्त हो चुकी है कि सिन्धु घाटी के निवासी नृत्य एवं संगीत के द्वारा भी अपना मनोरंजन करते थे । इस प्रकार पशुओं के आखेट के द्वारा मनोरंजन करने वाला भारतीय मानव आमोद प्रमोद के अन्य साधन भी खोज चुका था ।

28.3.2 वैदिक काल में

ऋग्वैदिक काल का भारतीय मानव पशुओं के बीच युद्धों के साथ साथ घुड़दौड़, रथदौड़ मल्लयुद्ध के द्वारा अपना मनोरंजन करने लगा था । नृत्य व गान विशिष्ट अवसरों पर होने लगे थे । संगीत में वाद्य संगीत (वीणा, झांझ व करताल) के दारा उत्तर वैदिक काल के आर्य अपना मनोरंजन करते थे । वीणा के अतिरिक्त वाँसुरी, दुंदुभि, शंख, मृदंग व ढोल बजाकर भी वे अपना मनोरंजन करते थे। आर्यों के संगीत प्रेम के साथ साथ उनकी संगीत दक्षता भी प्राचीन भारतीय संस्कृति को उच्च शिखर पर पहुँचाने वाली कला थी । उन लोगों ने उत्तर वैदिक युग में आखेट व जुआ के साथ चौपड़ के द्वारा मनोरंजन करना भी सीख लिया था । उत्तर वैदिक काल में साहित्य के विकास के साथ नाटकों का लेखन व मंचन तथा गीति, काव्यों की रचना आमोद प्रमोद के परिष्कृत साधन थे ।

28.3.3 मौर्य काल में

मौर्यकाल में जाति प्रथा का विकास हो चुका था । उस समय समाज का एक वर्ग पशुपालन में जुट गया था । इस वर्ग के अन्तर्गत गड़रिया, व शिकारी आते थे जो पशुओं का पालन करने के साथ साथ उनका शिकार करके माँस एकत्रित करते थे । यह लोग घुमक्कड़ जीवन व्यतीत करते थे तथा संगीत के माध्यम से अपने व्यस्त जीवन को तरोताजा तथा सरल बनाते थे । लेकिन इन साधनों का उपयोग समाज का निम्न वर्ग ही करता था, । आखेट युगों से उच्च वर्ग के लोगों का मनोरंजन का साधन रहा है । इसी प्रकार जुआ व चौपड़ भी समाज के उच्च वर्ग तक ही सीमित था ।

भारतीय इतिहास के इसी काल में समाज के मनोरंजन के साधन जुटाने वाला एक विशिष्ट वर्ग उत्पन्न हो चुका था । इस वर्ग को नट,नर्तक, गायक, चांदक, बाग्जीवी, सौमिक (मदारी) कुशीलव (वीरों का यशोगान करने वाला वर्ग जो स्वांग भी भरता था) प्लवक (रस्सी पर नाचने वाला वर्ग) इत्यादि कहकर सम्बोधित किया जाता था । यह वर्ग मनोरंजन को जीवन निर्वाह के साधन के रूप में अपनाए हुए था । इन साधनों के आनन्द सम्पूर्ण समाज उठाता था) लेकिन रथ दौड़ घुड़ दौड़ व मल्लयुद्ध के अतिरिक्त हस्ति दौड़ का आनन्द केवल उच्च वर्ग के लोग ही उठा सकते थे । अशोक महान् ने. अपने अभिलेखों में अंकित करवाया था कि विहार यात्राएँ मनोरंजन का साधन थीं । अशोक ने ही जब युद्ध बंद कर दिये थे, तब युद्ध के दृश्यों के अभिनय के द्वारा मंचन अथवा धार्मिक दृश्यों का प्रदर्शन मनोरंजन का लोकप्रिय साधन बन गया था । लेकिन शासन के अन्तिम दिनों में जब अशोक को विहार यात्राओं से विरक्ति हो गई थी, तब उसने विभिन्न त्योहारों को मनाने की परंपरा प्रारम्भकी थी उसी समय बसन्तोत्सव, दीपावली तथा पुष्प मेलों का आयोजन प्रारम्भ किया गया था । चौपड़ लोकप्रिय खेल बन गया था । उस समय धनुर्विद्या, नौका विहार अधिक लोकप्रिय हो गए थे । इस काल में नारी भी गेंद के विभिन्न खेलों के द्वारा अपना मनोरंजन करने लगी थी । गांवों में कई ऐसी शालाएँ गठित हो गई थीं जो समय समय पर खेल कूदों का आयोजन करती थीं । इसी समय अस्त्र शस्त्रों की नकली लडाई भी समाज के उच्च वर्ग के लोगों का आमोद प्रमोद का साधन बन गया था । जातक कथाओं से विदित होता है कि उस समय श्रेष्ठी के बच्चे भी धूल मे खेलते थे । एक व्यापारी के बेटे ने धूल से खेलते हुए ही एक मुट्ठी धूल उठाकर बोधिसत्व को दान दे दिया था ।

28.3.4 गुप्त काल में

गुप्तकाल में जुआ और चौपड़ के साथ साथ शतरंज का खेल भी प्रारम्भ हो चुका था । इस काल में मुर्गो की लड़ाई, गैडों की लड़ाई, हाथियों की लड़ाई लोकप्रिय बन चुकी थी । महिलाओं के साथ बालक वर्ग भी कन्दुक क्रीडा को आमोद प्रमोद के साधन रूप में अपना चुका था । नृत्य, गायन, नाटकों के मंचन के साथ इस काल में गणिकाओं के द्वारा गायन नृत्य सामूहिक एवं व्यक्तिगत रूप से करने की परिपाटी प्रारम्भ हो गई थी । लेकिन धार्मिक अवसरों पर मेलों के अवसर पर रथ यात्राओं का आयोजन तथा उद्यानों में सैर सपाटे करने की परिपाटी प्रारम्भ हो गई थी । इस प्रकार गुप्त काल के अन्त तक भारतवासी मनोरंजन को जीवन का अभिन्न आंग बना चुके थे । कदीमी साधन यथावत प्रचलित थे। नवीन साधनों से आनन्द समाज का उच्च वर्ग उठाता था । जबकि मेले, त्यौहारों के अवसर पर जो सामूहिक प्रदर्शन किए जाते थे उनके आनन्द सम्पूर्ण समाज के स्त्री एवं पुरुष उठाते थे । गुप्तकाल तथा परवर्तीकाल में हमें मनोरंजन व आमोद प्रमोद के लिये चौसठ कलाओं का विवरण प्राप्त होता

है । यद्यपि सभी कलाएँ प्रमोद कला से संबन्धित नहीं है । परन्तु, अधिकांशत: उस समय की विविध प्रथाओं का सुन्दर उल्लेख करती हैं । कलाओं की यह सूची ' कामसूत्र' के 'विद्या-समुहैश' नाम के दूसरे अध्याय से ली गयी है विवरण इस प्रकार है - 1 - **गायक.** 2. **वाद्य,** 3. **नृत्य.** 4. आलेखीय (चित्रलेखन), 5. **विशेषच्छेद्य** (कटाव करके चित्र आदि बनाना), 6 **तंडुल कुसुमवलि विकार** (चावल, फूलों आदि से चौक पूरना), 7. पुष्पास्तरण (फूल बंगला रचना), 8. **रंजन कला** (दाँतों, कपड़ों, अंगो को रंगों से संवारने की विधि), 9 **मणिभूमिका कर्म** (गच तैयार करना), 10 **शायन रचन** (शय्या तैयार करना), 11 उदकवाद्य (जल तरंग आदि जल वाद्य), 12 **उदकाघात** (पानी उछालना, पिचकारी आदि जल क्रीडाएं), 13 **मित्र योग** (टोना आदि), 14 **माल्यथन** (माल्यगूंथना), 15. शेखर कापीड योजना (' शेखरक' तो गूंथने का ही विकल्प था, शेखर शिखा स्थान पर जमाया जाता था । ' आपीड' भी विशेष प्रकार का गोल गंथन था अनेक रंगों के फूलों से विरचन 'योजन' कहलाता था), 16 **नैपथ्य प्रयोग** (देशकाल के अनुसार तरह-तरह के वस्त्र आदि में शरीर सजाना, आज की फैंसी ड्रेस भी इसी में आ जाती), 17 **कर्णपत्रभंग** (दांत, शंख आदि से वेश रचना), 18. **गन्धयुक्ति** (सुगन्ध लगाने की विधियाँ), 19 **भूषण योजन** (आभूषणों का यथायोग्य पहनना), 20 **इन्द्रजाल** (जादू के खेल), 21 **कोचुमार** (जिस प्रकार चित्रयोग में ईर्ष्यावश दुर्भाग्य पैदा किया जाता, काचमार में वैसे कुचुमार मुनि द्वारा बताये गये सुमंगकरण है), 22 **हस्तलाघव** (हाथ की सफाई, फरती), 23 **भोजन-पानक योजन** (विचित्र प्रकार के भोज्य, भक्ष्य यूष, लेह्य, पेय, रस आदि बनाने की क्रिया । टीकाकारों ने इनके अनेक विस्तार बताये हैं), 24 **सूचीवानकर्म** (सुई से सिलाई, बुनाई, गुंथाई), 25 **सूत्रक्रीड़ा** (डोरी का खेल), 26 **वीणाडमरू वादन** (तार, वाद्य और तालवाद्य बजाना), 27. **प्रहेलिका (**पहेलियाँ बुझाना) 28. **प्रतिमाला** (अन्त्याक्षरी आदि), 29 **दुर्वाचक योग** (ऐसे शब्द या पद रचना जिन्हें बोलना भी कठिन हो, समझना भी कठिन), 30 **पुस्तकवाचन** (सस्वर वाचन आदि), 31. **नाटक आख्यायिकादर्शन.** 32. **काव्यसमस्या पूर्ति,** 33. **वेत्रवान विकल्प** (बेत की बुनाई), 34. **तक्षकर्म.** 35. **तक्षण** (बढ़ई का काम), 36. **वास्तुविद्या** (घर बनाना- संभालना), 37. **रुप्य-रत्न -परीक्षा** (गहनों और सोना चांदी की परख), 38. **धातुवाद** (धातु पत्थर रत्न आदि एवं निकालने ओर शोधने की विद्या), 39. **मणिरागाकरज्ञान** (मणियों के रंग आदि का और खानों का ज्ञान), 40 **वृक्षायुर्वेद योग** (पेड़ों को लगाने, संवारने और उनकी देखभाल का ज्ञान) 41 **मेष कुक्कटलावकयुद्धविधि** (मेढ़े, कुक्कट, लवे लड़ाने की विधि), 42. **शुकसारिकाप्रलापन** (तोता- मैना को सिखाने की विधि), 43. **उत्सादन-संवाहन-मर्दन कौशल** (अंग दबाना, मालिश आदि), 44. **अक्षर-मुष्टिका कथन** (सांकेतिक भाषा में अभिप्राय कहना), 45. **स्लेच्छितविकल्प** (गूढ़ बातचीत के लिये शब्दों को जोड़ने तोड़ने की विधियाँ), 46 **देश-भाषा विज्ञान**, 47. **पुष्पशकटिका** (फूलों के निमित्त करके बनायी गयी), 48 **निमित्त ज्ञान** (शकुन विचार), 49 **यन्त्र मात्रिका** (कल से चलने वाले यन्त्रों का ज्ञान), 50. **धारण मात्रिका** (सुनकर धारण करना), 51 **सम्पाठ्य** (साथ पढ़ना), 52. **मानसी** (विभिन्न आकृतियों के सहारे लिखे गये श्लोक आदि को पढ़ देना), 53 **काव्यक्रिया** 54 **अभिधानकोश** (इन्हें जानना और स्मरण रखना), 55. **छन्दोज्ञान**, 56. **क्रियाकल्प** (रचना के गुणदोष का परीक्षण), 57. **छलितयोग** (ठगने फुसलाने की विधा), 58. **वस्त्रोगोपन,** 59 **धूतविशेष** (विभिन्न प्रक र के जुए के खेल), 60. **आकर्ष क्रीडा** (पासे से फेंके गये जुए का खेल), 61 **बालक्रडिन** (गेंद, गुडिया आदि के बच्चें के खेल),

62. **बैनयिकी** (विनय विधि, हाथी- घोड़ों को सिखाने की विधियाँ), 63. **वैजयिकी** (विजय दिलाने वाली विद्याएँ), 64 **व्यायामिकी** (व्यायाम, शिकार कुश्ती आदि)

कलाओं की यह सूची कामसूत्र के 'विद्या समुद्देश' नामक दूसरे अध्याय से ली गयी है । टीकाओं मे यह संकेत है कि सूचियाँ दूसरे ढंग से भी प्रस्तुत की जाती हैं । इसका कुछ सकेत तो हमने आरम्भ में दिया ही है । सभ्य अथवा 'नागर' व्यक्ति में जो गुण या अकाम्पिलशमेंट अपेक्षित थे, उन्हीं को कला गिनाया गया है नागरिक अपने सुख की साधना भी करता था और दूसरी को प्रसन्न करने के सभा-समाज में व्यवहार के, मित्रों का दिल बहलाने और स्त्रियों को आकर्षित करने के तौर-तरीकों का विधिवत् अभ्यास भी करता था । कला - विलास और विलास- कला सदैव एक दूसरे से जुड़े रहते थे।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत के समाज में विभिन्न प्रकार के आमोद प्रमोद के साधन प्रचलित थे । उत्सव मनाना, मेले आयोजित करना, रथ यात्रा निकालना, जुलूस निकालना परिपाटी बन चुकी थी । लेकिन विशिष्ट अवसरों पर नृत्य व संगीत का आयोजन अभिनय विशेष रूप से दशहरा व दीपावली के अवसरों पर अभिनय आयोजन, शतरंज, जुआ नाटकों का मंचन तथा पानी के खेल मनोरंजन के प्रमुख साधन थे । पशु मेलों का आयोजन भी प्रारम्भ हो चुका था । जुआ के खेल पर शासक वर्ग ने कर लगाना प्रारम्भ कर दिया था । नटों के करतब के साथ व्यायाम भी मनोरंजन का साधन बन गया था । शासकों ने अपनी अपनी प्रशासनिक व्यवस्था में व्यायाम के आयोजन के निरीक्षण के लिए एक विशेष अधिकारी नियुक्त कर रखा शा । इस प्रकार मध्य युग के प्रारम्भ के समय आमोद प्रमोद भारतवासियों के जीवन का अभिन्न अंग बन चुका था ।

28.4 मध्ययुग में आमोद प्रमोद के साधन

28.4.1 सल्तनतकाल में

भारत मे तुर्क अफगान सल्लनत की स्थापना के साथ सूफी सिलसिले का पदार्पण हो चुका था । सूफी सन्त संगीत पर विशेष बल देते थे । अतएव सल्लनत युग में संगीत इतना अधिक लोकप्रिय हो गया था कि महफिली संगीत के साथ साथ कव्वाली धार्मिक अनुठान के साथ मनोरंजन का प्रमुख साधन बन गयी थी । वाद्य यन्त्रों का प्रयोग तथा नवीन रागों का आविष्कार सल्लनत काल के मनोरंजन की विशेषता थी । तबला एवं सारंगी इसके उदाहरण हैं । संगीत के साथ नृत्य भी मनोरंजन का प्रमुख साधन बन गया था। दरबारी संगीत ने तथा सुल्तानों के द्वारा संगीतकारों को राजकीय संरक्षण प्रदान करने के परिणाम स्वरूप मुस्लिम संगीतज्ञों के साथ हिन्दुओं ने भी संगीत को व्यवसाय के 'रूप में अपना लिया था । प्राचीन काल के समान सल्लनत काल में भी होली, दीपावली तथा बसन्तोत्सव धूमधाम के साथ मनाये जाते थे । लोक भरपूर आनन्द उठाते थे । जनसाधारण मल्लयुद्ध, नटों के प्रदर्शन तथा पशुओं की क्रीड़ाओं के द्वारा मनोरंजन करता था । लोक नृत्य लोकप्रिय हो गये थे । अमीर व निम्न वर्ग के लोग मदिरा सेवन के द्वारा भी मनोरंजन करते थे । धूत क्रीड़ा मनोरंजन का लोकप्रिय साधन था ।

चौदहवीं शताब्दी में भारत की यात्रा करने वाले विदेशी यात्री इब्नबतूता ने अपने संस्मरणों मे लिखा है कि ताश का खेल भी भारत में प्रचलित हो चुका था तथा स्त्री एवं पुरुषों में बहुत लोकप्रिय हो गया था।

28.4.2 मुगल काल में

मुगल काल में अमीरों एवं अधिकारीवर्ग शतरंज एवं चौपड़ के द्वारा मनोरंजन करते थे । अकबर ने ताश के अनेक नए खेल ईजाद किए थे । शिकार, कुश्ती, हस्तियुद्ध, चौगान (पोलो), घुड़सवारी, कबूतर बाजी, रथों की दौड़, जादूगरी (बाजीगर) के करतब आमोद प्रमोद के प्रमुख साधन थे । मुगल सम्राटों को हाथियों की लड़ाई देखने का बहुत शौक था । वे लोग नौका बिहार के भी शौकीन थे । नृत्य एवं संगीत पूर्वतः मनोरंजन के लोकप्रिय साधन थे । बादशाह, उसके अमीरों तथा सरदारों को बाग लगाने तथा उनमें सैर सपाटे करने का शौक था । सुरापान तथा तवायफों के नाच सम्पन्न व्यक्तियों के मनोरंजन का साधन था ।

मुगल काल में जीवन की नीरसता का निवारण करने के खातिर मेले आयोजित किए जाते थे । नगर एवं गांव दोनों में यह परम्परा चल रही थी । तीर्थ स्थानों पर मेले, विशेष रूप से पशु मेले आयोजित होने लगे थे । अधिकतर मेले वार्षिक थे। जिनमें स्त्री पुरुष मुक्त रूप से भाग लेकर आनन्दोत्सव मनाते थे । किसी किसी स्थान पर चुने हुए मेले महीनों तक चलते रहते थे । हिन्दू राखी, दशहरा, दीपावली व होली के उत्सव त्यौहार के रूप में मनाते थे जबकि मुसलमान ईद शबेरात, बारावफात के उत्सव मनाते थे । मुगल बादशाह नोरोज व जन्मदिन तथा राज्यारोहण की तिथि उत्सव के रूप में मनाते थे । ऐसे अवसरों पर विशेष दरबार व दावतें आयोजित किए जाते थे । इस प्रकार भारत में अंग्रेजों के आगमन तक आमोद प्रमोद के विभिन्न साधन समाज का अभिन्न अंग बन चुके थे ।

मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन के कवियों की 'लीला' विषयक संकल्पना और क्रीड़ा या खेलकूद में तात्विक दृष्टि से बहुत अन्तर नहीं है । क्योंकि दोनों के मूल में निर्हेतुक रंजनात्मक व्यापार का भाव वर्तमान है । इसी कारण सूर-सागर में वर्णित कृष्ण और उनके अवतारों के सभी क्रियाकलापों को ' लीला' कहा जा सकता है । इसी प्रसंग में कृष्ण जन्मोत्सव तथा बधाई के चित्रण के पश्चात् सूरदास ने जिन लीलाओं का वर्णन किया है उन्हें खेल भी कहा जा सकता है । सूरदास ने ऐसे प्रसंगों के वर्णन में स्वयं बार-बार 'लेखत ' शब्द का उल्लेख किया है । उदाहरणार्थ, घर से बाहर ग्वाल बालों के साथ कृष्ण की क्रीडाओं के वर्णन के प्रसंग में सूरदास ने होडा होडी दौड़ खेल का वर्णन कई पदों में किया है । आँख मिचौली खेल का विवरण तो कई स्थलों पर हुआ है । इसी फ्क्रार वर्षा ऋतु में झूला, बसन्त ऋतु में होली तथा ग्रीष्म ऋतु में जल बिहार, वन बिहार आदि का भी विस्तार से वर्णन आता है । मुगल काल मे होली तो हरम में भी खेली जाती थी । अकबर की बात छोड़िये, जहाँगीर के काल में हरम में होली का त्योहार मनाये जाने का विवरण 'मुल्क-ए-जहाँगीर में विस्तार के साथ किया गया है ।

28.5 आधुनिक काल

अंग्रेज स्वभाव से मनोरंजन प्रिय रहे हैं । उनके जीवन में सप्ताह में एक दिन (रविवार) आमोद प्रमोद के लिए निश्चित होता है । वे मनोरंजन के दोनों घरेलू (इंडोर) एवं बाह्य साधनों का उपयोग करते थे । भारत में प्रचलित साधनों से भरपूर आनन्द उठाने के साथ साथ उन लोगों ने 'क्लब लाइफ' प्रारम्भ की । क्लब में विभिन्न प्रकार के नए पुराने घरेलू खेल खेले जाते थे । इनमें ताश का खेल

बहुत लोकप्रिय था। क्लब में ही टेनिस , बिलियर्ड, बेटमिंटन, आदि खेले जाते थे । यह खेल अंग्रेजों के भारत के आगमन से पूर्व इस देश के निवासियों को ज्ञात नहीं थे । बाह्य खेलों में फुटबाल बालीवाल व क्रिकेट के खेल भी लोकप्रिय होने लगे थे । उच्च वर्ग के लोगों में मनोरंजन के यह साधन बहुत शीघ्र जनसाधारण के आमोद प्रमोद के साधन बन गए । गोल्फ का खेल सम्पन्न व्यक्तियों के मनोरंजन का साधन था, जबकि खो -खो का खेल स्कूलों एवं उच्च शिक्षा संस्थानों में मनोरंजन का सरल साधन था ।

महफिल - 19 वीं शताब्दी में नवाबों, राजाओं एवं जमीदारों व रईसों के संरक्षण में उच्च वर्ग ने भारत में महफिलों की एक नयी संस्कृति विकसित की । मुगलकाल बल्कि उससे पूर्व ही गोष्टियों दावतों व महफिलों का विवरण आता है । परन्तु, 19वीं शताब्दी में इसने मध्यमवर्ग को अपनी पकड़ में ले लिया एवं महफिलों में कई नये रंग भर दिये । लखनऊ, बनारस, जयपुर, आगरा दिल्ली लाहौर हैदराबाद, मुर्शिदाबाद की महफिलें सारे भारत में चर्चा का केन्द्र बन गयी । इन नगरों में लोग गली-गली में हर कोई दस-बीस भजन गा लेता, चार छः रागरागिनियों के सुर लगा लेता दस बीस शेर कह लेता। संस्कृत एवं बृज भाषा के छन्द तो बात बात में उठ आते । सबेरे उठते ही स्नानार्थियों के भजन कान में पड़ते, शहनाई के सुरीले स्वर, पानी भरनेवालियो और चक्की पीसने वालियों के मधुर गीत गूंजने लगते ।

महफिलों में ठुमरी से लेकर ख्याल व दादरे तक गाये जाते । कत्थक नृत्य होता । कुछ ओर भी संगीत होते- टप्पा, चैत्री, होली, कजरी, पुरबी, भजन, गजल आदि मियाँ शोरी पंजाब के प्रसिद्ध गायक हुए । संभवत: उन्होंने ही 'टप्पा शैली' ' को जन्म दिया । सामाजिक उत्सवों पर जो महफिलें सजायी जातीं थीं वह मकान के आँगन में सुसज्जित होती थीं ।

प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक ग्रामवासी कुश्ती, कबड्डी, पशु दौड़ एवं रामलीला आयोजित करके मनोरंजन करते थे । सामान्य व्यक्ति भी वर्ष में एक दो बार उद्यानों में जाकर, मेलों में भाग लेकर मनोरंजन करते थे । मेलों के अवसर पर झूले लगाए जाते थे जिनमें बच्चे झूला झूलकर आनन्द उठाते थे ।

मुगल शासन काल में गांवों में सप्ताह में एक दिन हाट लगना प्रारम्भ हो गया था । बड़े ग्रामों अथवा नगरों में हाट बाजार लगते थे । जहाँ आसपास के ग्रामवासी अपनी आवश्यकता की वस्तुओं की खरीद फरोख्त करते थे । सर्वाधिक लोकप्रिय पशु मेले थे जहाँ पशुओं की खरीद फरोख्त के साथ साथ ग्रामवासी हंसते खेलते नाचते हुए आनन्द उठाते थे ।नाटकों का मंचन भारत का प्राचीन लोकप्रिय साधन था । आधुनिक काल में बिजली के आविष्कार के पश्चात् सिनेमा का प्रचलन कस्बों एवं नगरों में हो गया था । इसी प्रकार सामूहिक भोज (गोठ) आयोजित करने की परिपाटी आधुनिक काल में बहुत अधिक लोकप्रिय हो गई है । शाही राजघरानों में आयोजित किए जाने वाले सामूहिक भोज गांवों तथा कस्बों में विशिष्ट अवसरों पर गोठ के रूप में मनाए जाते थे ।

आधुनिक काल में देशाटन (भ्रमण) भी बहुत अधिक लोकप्रिय हो गया है । तीर्थयात्राएँ तो मध्ययुग में भी प्रचलित थीं । लेकिन सैरसपाटे के लिए मनोरम स्थानों पर भ्रमण के लिए जाने की परिपाटी आधुनिक काल की देन है । पहाड़ों पर गर्मी की छुट्टियाँ व्यतीत करने अंग्रेज साहिब जाते थे। उनका अनुसरण करके उच्च वर्ग के भारतीय भी पहाड़ों पर जाकर मनोरंजन करने लगे हैं । फलस्वरूप शिमला, डलहौजी, दार्जिलिंग, जैसे शहरों का विकास हुआ ।

नृत्य एवं संगीत का एक रूप हमें आधुनिक शताब्दी के प्रथम चरण में तवायफों के उन कोठों के रूप में दिखाई देता है जहाँ समाज के सम्पन्न लोग जाकर आमोद प्रमोद करते थे । इसके साथ ही मदिरा का इतना अधिक प्रचलन हो गया है कि अंग्रेजों के नक्शे कदम पर चलने वाले भारतीय रात्रि भोज के साथ साथ दिन में भी शराब का प्रयोग करने लगे हैं ।

मुगलों के जमाने में भी शिकार करना बहुत लोकप्रिय था बल्कि साम्राज्य में संरक्षित जंगलों के भाग थे जहाँ शाही परिवार के लोग शिकार कर सकते थे । अंग्रेजों ने अपने देशी मित्रों विशेषकर रियासतों व राजाओं के साथ मिलकर ' शिकार खेलने ' के कई कार्यक्रम बनाये । आज भी पुराने महलों में शिकार के जानवरों की खालों से सुसज्जित कमरे दिखायी पड़ते हैं । इस दृष्टि से शिकारी बाज व कुत्ते पालने का शोक भी बना रहा । इसके साथ तीरंदाजी व निशानेबाजी भी बहादुरी के मनोरंजक कार्यक्रम माने जाते रहे । भूटान में तीरंदाजी सदैव लोकप्रिय मनोरंजन का खेल बना रहा । एशिया के एक और खेल जिसे अंग्रेजों ने बहुत लोकप्रिय बनाया वह था पोलो मुग़ल इसे चौगान कहते थे । एशिया के ही अन्य खेलों जैसे कबूतर एवं पतंगबाजी ने भी आधुनिक भारत में अपना रंग जमाये रखा ।

अंग्रेजों ने जिन यूरोपीय व ब्रिटिश खेलों को मनोरंजन की दृष्टि से भारत में लोकप्रिय बनाया, उनमें क्रिकेट प्रमुख है । 1721 ई में बॉम्बे में पहला क्रिकेट मैच खेला गया । 1792 ई. में कलकत्ता में क्रिकेट का क्लब था । भारतीयों ने 1848 ई. में बम्बई में अपना ओरियण्टल क्रिकेट क्लब बनाया। धीरे - धीरे यह खेल भारत में बहुत लोकप्रिय हो गया । यद्यपि अभी भी 'पिच' ठीक नहीं थे व सामान भी सुव्यवस्थित नहीं था परन्तु 20वी शताब्दी में इसमें पर्याप्त सुधार आया । भारत के रणजीतसिंह जी ने इग्लैंड की टीम में भी स्थान पाया । एक अन्य ब्रिटिश खेल हॉकी ने भी भारी लोकप्रियता प्राप्त की । ब्रिटिश सेना ने प्रारम्भ में इसे लोकप्रिय बनाया । बाद में तो इस खेल में भारत ने 'कई ओलम्पिक स्वर्णपदक प्राप्त किये । इसी प्रकार फुटबाल व वॉलीवाल भी लोकप्रियता के शिखर पर रहे ।

सिनेमा : आधुनिक काल में मनोरंजन के क्षेत्र में सिनेमा ने बाकी सभी श्रेणियों, बिन्दुओं व स्वरूपों को पीछे छोड़ दिया है । अपनी समस्त सीमाओं एवं कमियों के पश्चात् भी भारतीय सिनेमा ने हमारी प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा को कहानी चारित्र गीत व संगीत तथा संवादों के माध्यम से प्रसारित किया है । 1896 ई. मे पहली बार एक कथाचित्र हमारे सामने आया । इस दिशा में उल्लेखनीय प्रगति दादासाहब फाल्के की फिल्म ' राजा हरीशचन्द्र' (1913 ई.) से हुई । आजादी से पहले ब्रिटिश सैन्सरशिप व अन्य तकनीकी बाधाओं के पश्चात् भी भारतीय फिल्मों के निर्माण मे तेजी आयी। स्वतन्त्रता संग्राम के विषयों के अतिरिक्त सामाजिक विषयों व सुधारों पर भी फिल्मांकन होने लगा । के. ए. अब्बास जो कि पहले लेखक व आलोचक थे व बाद में उन्होंने स्वयं फिल्म निर्माण आरम्भ कर दिया था ने लिखा है कि पूना व बम्बई के फिल्म निर्माता व्ही शांताराम के चित्रों विशेषकर ' आदमी', 'दुनिया न माने ', 'पर्वत पे डेरा' , 'कोटनीस की अमर कहानी',' ने नये विषयों को सामने लाकर एक सामाजिक क्रान्ति की भूमिका तैयार की । इस काल के अन्य प्रसिद्ध निर्माता, वासन, महबूब अली, जियासरहदी, रमेश सहगल, पी. सी. बरूआ, आदि थे । फिल्म निर्माण बम्बई के अतिरिक्त पूना, कलकत्ता व मद्रास (चैन्नई) में होने लगा था व प्रान्तीय भाषाओं की फिल्मों का निर्माण भी प्रारम्भ हो गया था । इस काल के प्रमुख कलाकार, अशोक कुमार, देविकारानी जयराज, पृथ्वीराजकपूर, मोतीलाल, के.एल. सहगल आदि थे । आजादी के बाद भारतीय फिल्मों में आये स्वर्णयुग की नींव इसी काल में पड़ चुकी थीं ।

रेडियो : इसके अतिरिक्त रेडियो ने भी मनोरंजन के क्षेत्र में अपना घर बनाना प्रारम्भ कर दिया था । यद्यपि उसकी प्रगति बहुत धीमी एवं अनिश्चितता के वातावरण में हुई थी । 1926 ई. में जाकर एक निजी कम्पनी ने अनेक सीमाओं मे बंधकर रेडियो सेवाएं देना प्रारम्भ किया था । लेकिन चार वर्षों के भीतर ही सरकारी नीतियों व लोगों की उपेक्षा की कारण उसने दम तोड़ दिया । सन् 1932 ई में भारतीय प्रसारण सोवाओं के अन्तर्गत रेडियो पुन: प्रारम्भ किया गया और 1936 ई. में जाकर इसका, नामकरण ' आल इण्डिया रेडियो ' रखा । धीरे- धीरे इसकी सेवाएं मनोरंजन के क्षेत्र मे लोकप्रिय होने लगी ।

28.6 इकाई सारांश

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो गया है कि युग युगीन भारत में प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल ' तक आमोद प्रमोद के साधन प्रचलित थे । इनका प्रयोग मनुष्य अपने व्यस्त कार्यक्रम में परिवर्तन लाने के लिए किया करता था । दिनभर की थकावट को दूर करने के लिए आमोद प्रमोद के साधनों का प्रयोग उच्च वर्ग- से लेकर निम्न वर्ग तक के लोग करते थे । आमोद प्रमोद के साधन लगभग समान थे । कुछ साधन खर्चीले थे जिनका उपयोग केवल सम्पन्न वर्ग के लोग कर सकते थे । उदाहरण के लिए हाथियों की दौड़, रथ की दौड़ इत्यादि इनका प्रयोग साधारण जनता नहीं करती थी । लेकिन गांव और नगरों के निवासी पशुओं की दौड़, विशेष रूप से बैलों की दौड़ आयोजित करके मनोरंजन करते थे । इसी प्रकार नृत्य और गान भारतीय इतिहास में और विदेशों में भी मनोरंजन का एक लोकप्रिय साधन रहा है । विदेशों के समान भारत में भी तवायफों (नाचने गाने वालों) का एक वर्ग था जो नगर अथवा कस्बे की एक निर्धारित बस्ती में निवास करते थे । जहाँ लोग कोठे पर जाकर आनंद उठाते थे । मनोरंजन का सर्वाधिक लोकप्रिय साधन मदिरा सेवन रहा है । निर्धन व्यक्ति भी अपनी दिन भर की थकावट को दूर करने के लिये मदिरा का सेवन करते हैं । इसी प्रकार आधुनिक काल में लोग अपने मानसिक तनाव को दूर करने के लिए नशीली दवाइयों का प्रयोग करने लगे हैं । घातक होते हुऐ भी आनंद उठाने के यह साधन उत्तरोत्तर लोकप्रिय होते जा रहे हैं । इस प्रकार के प्रयोग को रोकना चाहिये।

आमोद प्रमोद के जो साधन प्राचीन काल से प्रचिलित थे उनसे आधुनिक काल में लोग विरक्त होते जा रहे हैं । आज कुश्ती, व्यायाम, कबड्डी ऐसे खेल है जो उतने अधिक लोकप्रिय नहीं है, जितने क्रिकेट, टेनिस या फुटबाल के खेल महंगे होते हुये भी लोकप्रिय बने हुए हैं ।इन साधनों की समीक्षा करने के बाद यह निष्कर्ष निकाला जायेगा कि अशोक महान ने अपने अभिलेखों के दारा मानव प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति करते हुए ठीक ही लिखा था कि मनुष्य को जीवन में मनोरंजन के लिए समय रखना चाहिये ।

आमोद प्रमोद के बगैर मनुष्य का जीवन नीरस हो जाता है । वह अपने शारीरिक और मानसिक थकावट को दूर नहीं कर सकरा । अतएव मानव इतिहास में भारत और विदेशों में आमोद प्रमोद के साधनों का भरपूर उपयोग होता रहा है।

28.7 अभ्यासार्थ प्रश्न :

(अ) निम्न प्रश्नों का उत्तर 50 शब्दों में दीजिये: -

1. प्राचीन काल में आमोद प्रमोद के प्रमुख लोकप्रिय साधन क्या क्या थे?

2. ताश, शतरंज और जूआ के खेल कब प्रारम्भ हुये? मनोरंजन के साधन के रूप में इनकी उपयोगिता की समीक्षा कीजिए ।
3. मुगल काल में आमोद-प्रमोद के क्या मुख्य साधन थे?
4. आधुनिक काल में मनोरंजन के क्षेत्र में किस प्रकार के परिवर्तन आये?

(ब) निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिए ।

1. चौसठ कलाओं में मनोरंजन की लोकप्रिय कलाएँ कौनसी थी?
2. आखेट व शिकार खेलने के क्या उद्देश्य थे?
3. भारतीय सिनेमा ने किस प्रकार मनोरंजन के क्षेत्र में अपना घर बना लिया?

28.8 प्रासंगिक पठनीय ग्रन्थ

1. बी. एन. लूणिया प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास
2. के. एम. अशरफ, हिन्दुस्तान के निवासियों का जीवन एवं परिस्थितियाँ
3. बी. लूनीया, मध्य कालीन भारत का राजनैतिक व सांस्कृतिक इतिहास
4. कैम्ब्रिज एनसाइक्लोपीडिया ऑफ इण्डिया

NOTES

NOTES